[1988] 1 उम० नि० प० 565

शिवनंदन पासवान

बनाम

बिहार राज्य और अन्य

20 दिसंबर, 1986

मुख्य न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती, न्यायमूर्ति ई० एस० वेंकटरामय्या, वी० खालिद, जी० एल० ओझा और एस० नटराजन

संविधान, 1950—अनुच्छेद 136 और 137—अभियोजन वापस लेने के लिए न्यायालय की सम्मति दिए जाने पर उच्चतम न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप का प्रश्न—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन विचारण न्यायालय के आदेश द्वारा अभियोजन वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया गया, उस आदेश के विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण याचिया उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई और अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में की गई अपील भी खारिज कर दी गई—अनुच्छेद 137 के अधीन पुनर्विलोकन याचिका में उच्चतम न्यायालय द्वारा तथ्यों और साक्ष्य की सूक्ष्मता से जांच नहीं की जाती और उसके द्वारा ऐसी जांच करके हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321, 227 और 239—अभियोजन के वापस लिए जाने की अनुज्ञा देने का दोषमुक्ति पर प्रभाव—यदि अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञा दे दी गई है तो इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि अभियुक्त को दोषमुक्त कर दिया गया है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 132, 133, 134, 136 और 137—पुनर्विलोकन याचिका ग्रहण किए जाने का प्रभाव तथा सकारण आदेश पारित करने के लिए उच्चतम न्यायालय की बाध्यता—यदि उच्चतम न्यायालय स्थिति का जायजा लेकर यह विनिश्चित करे कि कोई आदेश किए जाने के लिए कारण देने का आवश्यक नहीं है तो वह ऐसा कर सकता है क्योंकि उच्चतम न्यायालय पर कारण देने की कोई बाध्यता नहीं है।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321—अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए न्यायालय की सम्मति प्राप्त करने के लिए आधार—इस धारा में आधारों के बारे में किसी मार्गदर्शन के अभाव में विनिश्चित मामलों से मार्गदर्शन प्राप्त करना होगा—लोक अभियोजक द्वारा आवेदन सद्भावपूर्वक किया गया हो, कारण अनुचित न हों तथा सुसंगत सामग्री पर भलीभांति सोच-विचार कर लिया गया हो।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321—अभियोजन को वापस लेने के लिए सम्मति देने के बारे में न्यायालय का विवेकाधिकार—अभियोजन को वापस लेने के लिए सम्मति देने के विषय में न्यायालय को साक्ष्य का जायजा नहीं लेना होता—न्यायालय को यह देखना चाहिए कि क्या आवेदन सद्भावपूर्वक, लोकनीति और न्याय के हित में किया गया

है—उसे विस्तृत सकारण आदेश भी नहीं देना होता तथा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर ही सम्मति देनी चाहिए।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321—अभियोजन वापस लेने के लिए लोक अभियोजक द्वारा किए गए आवेदन और मजिस्ट्रेट द्वारा दी गई सम्मति का औचित्य—लोक अभियोजक द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर मजिस्ट्रेट द्वारा विचार किए जाने पर न्यायालय को मजिस्ट्रेट के कथन पर विश्वास करना चाहिए—न्यायालय इस बात पर विचार करेगा कि क्या आवेदन सद्भावपूर्वक, लोक नीति के अनुसार और न्याय के हित में किया गया है।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321, 154, 190 और 200—अभियोजन के वापस लेने का विरोध करने में राजनैतिक वैमनस्य का प्रश्न—राजनैतिक वैमनस्य का होना अभियोजन वापस लेने के लिए कोई स्वतंत्र आधार नहीं है—इस आधार पर हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा क्योंकि इससे न्याय के हित या लोक न्याय की अभिवृद्धि नहीं होगी।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 24 और 321—लोक अभियोजक के पद की प्रकृति और उसका कार्य—लोक अभियोजक कोई उत्पीड़क व्यक्ति नहीं होता है—अभियोजन के वापस लेने के लिए किए गए उसके विनिश्चय में तब तक हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा जब तक कि उसने सोच-विचार कर कार्य न किया हो या कार्य असद्भाविक या अनुचित न हो।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321 सपठित प्रशासनिक विधि—लोक अभियोजक की शक्ति के प्रयोग की सीमा—लोक अभियोजक उक्त धारा के अधीन दी गई शक्ति का प्रयोग न्यायालय की सम्मति से ही कर सकता है—इस धारा का अर्थान्वयन प्रशासनिक विधि के सिद्धांतों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 321—लोक अभियोजक की भूमिका और कार्य करने में स्वतंत्रता—लोक अभियोजक, यद्यपि सरकार की सलाह के आधार पर ही कार्य करता है तथापि उसे किसी विशेष मामले में सरकार द्वारा बताए गये आधारों पर सोच-समझ कर कार्य करना होता है।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 154, 190, 195, 196, 197 और 200—जांच कराए बिना अभियोजन चलाए जाने का प्रश्न—मुख्यमंत्री, लोक सेवक या पूर्व प्रशासन से संबद्ध व्यक्ति के विरुद्ध भी अभियोजन, बिना किसी जांच आयोग के ऐसे अभियोजन से पूर्व बैठाए बिना, प्रारंभ किया जा सकता है किंतु उसके लिए पर्याप्त सामग्री अभिलेख पर विद्यमान होनी चाहिए।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 154 और 173 (सपठित संविधान 1950 का अनुच्छेद 14)—अभियोजन के लिए पुलिस को अनियंत्रित शक्ति दिए जाने का प्रश्न—भारतीय संवैधानिक स्कीम में पुलिस को किसी अभियुक्त को अभियोजित करने या न करने की आत्यंतिक या अनियंत्रित शक्ति नहीं दी गई है—पुलिस संविधान के समता खंड का उल्लंघन नहीं कर सकती।

प्रस्तुत मामले का इतिहास बहुविध है और यह आवश्यक है कि प्रस्तुत मामले में न्यायालय के समक्ष अवधारण के लिए उत्पन्न प्रश्न को समझने के लिए तथ्यों का कथन विस्तारपूर्वक किया जाए। इस नाटक में मुख्य नायक डॉ० जगन्नाथ मिश्र है जो किसी समय बिहार के मुख्यमंत्री थे। वह मुख्य संविवाद जिससे सभी प्रश्न संबद्ध हैं, यह है कि क्या डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध उस समय प्रारंभ किया गया अभियोजन जबकि वह सत्ता में नहीं थे, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा ठीक ही वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञात किया गया था अथवा क्या इस प्रकार वापस लिया जाना अविधिमान्य था और उसे इसलिए अपास्त किया जाना चाहिए ताकि डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन जारी रखा जा सके। तथ्यों की वह स्थिति जिनसे यह मामला उद्भूत होता है, एक सरकारी बैंक, जिसका नाम पटना सहकारी बैंक है, के कामकाज से संबंधित है। यह सहकारी बैंक 1970 में रजिस्ट्रीकृत किया गया था और इसने जब अपना बैंकिंग कारबार प्रारंभ किया तो नवल किशोर सिन्हा इसके अध्यक्ष, के० पी० गुप्त अवैतनिक सचिव, एम० ए० हैदरी प्रबंधक तथा ए० के० सिंह, ऋण लिपिक थे। इस बात पर गंभीरतापूर्वक विवाद नहीं किया गया है कि सहकारी बैंक के अधिकांश सदस्य अध्यक्ष से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे। इस सहकारी बैंक का उद्देश्य लोगों को लघु उद्योग तथा कारबार स्थापित करने के लिए वित्तीय सहायता देना था और साधारण परिस्थितियों में लोगों को उनके व्यवसाय तथा कारबार को चलाने के लिए सहायता करना था। एक उपसमिति का गठन किया गया था जिसका नाम ऋण उपसमिति था। इसमें नवल किशोर सिन्हा, के० पी० गुप्त और एक अधिवक्ता पूरनेंदू नारायण थे। उनका कार्य ऋण मंजूर करना तथा देना था अर्थात् नवल किशोर सिन्हा उपविधियों के अनुसार सहकारी बैंक के सभी कृत्यों के संबंध में विनिश्चय करने वाले सर्वोपरि प्राधिकारी थे तथा अवैतनिक सचिव अर्थात् के० पी० गुप्त का कार्य अध्यक्ष के साथ सहकारी बैंक की समस्त गतिविधियों पर पर्यवेक्षक के रूप में नियंत्रण रखना था। प्रबंधक अर्थात् एम० ए० हैदरी इसके दिन-प्रतिदिन के कार्य से संबद्ध था। डॉ० जगन्नाथ मिश्र जो उस समय विधान परिषद् का सदस्य था, नवल किशोर सिन्हा से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था और उसने सहकारी बैंक तथा नवल किशोर सिन्हा की सहकारी बैंक के कामकाज के संबंध में अन्य तरीकों से सहायता की थी तथा सहकारी बैंक के लिए स्रोतों (साधनों) के जुटाने में भी सहायता की थी। किसी समय 1974 में सहकारी बैंक के कार्य के संबंध में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा तथा बिहार राज्य के सहकारिता विभाग द्वारा भी वर्ष 1972-73 तथा 1973-74 के लिए अलग से लेखा-परीक्षा कराई गई थी और इन लेखा परीक्षाओं के परिणामस्वरूप अनेक अनियमितताएं जानकारी में आई थीं। जैसा कि रोकड़ बहियों का उचित रूप से न रखा जाना तथा ओवर ड्राफ्ट सुविधाएं बिना चालू खाते के दी जानी और उसी प्रकार से सहकारी बैंक की निधियों के संबंध में अवैध परिपाटी तथा निधियों के गबन तथा अपव्यवहार किया जाना। लेखा-परीक्षा रिपोर्टों से यह पता चला कि एक बहुत बड़ी रकम जो लाखों रुपए की थी, अपव्यय करके उड़ा दी गई है, जो सदस्य नहीं थे उन्हें ऋण दिया गया, यहां तक कि बिना करारों अथव आवेदन-पत्रों के ऋण दिया गया, बिना आडमान अथवा प्रतिभूति के ऋण दिया गया, आडमानित माल के विक्रय आगमों से रुपए वसूल किए जाने के स्थान पर थोड़े समय के लिए ऋण दिया जाना, एक ही व्यक्ति को भिन्न नामों से ऋण दिया जाना तथा काल्पनिक व्यक्तियों और ऐसी फर्मों अथवा उद्योगों को ऋण दिया जाना जो अस्तित्व में ही नहीं। थीं ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि गांधी मैदान अथवा पटना रेलवे स्टेशन

की प्रतिभूति के आधार पर ऋण स्वीकार किए गए थे। रिजर्व बैंक की लेखा-परीक्षा पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुंची कि नवल किशोर सिन्हा तथा कुछ अन्य व्यक्ति लगभग 12 लाख रुपए के डूबंत ऋण के दुर्विनियोग तथा लगभग 25 लाख रुपए की निधि के दुर्विनियोग तथा गबन के लिए उत्तरदायी थे। अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं० 2 प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दलों से संबद्ध थे। अपीलार्थी बिहार विधानसभा का एक सदस्य है। प्रत्यर्थी सं० 2 बिहार का मुख्यमंत्री था। प्रत्यर्थी सं० 4, प्रत्यर्थी सं० 2 का एक निकट सहयोगी था। प्रत्यर्थी सं० 3 ने पटना नगरीय सहकारी बैंक प्रारंभ किया और वह उसका अध्यक्ष बना। वह और प्रत्यर्थी सं० 2 घनिष्ठ मित्र थे। बैंक के क्रियाकलापों में कुछ अनियमिताएं की गई थीं। उन अनियमितताओं के लिए बैंक से संबद्ध व्यक्तियों को अभियोजित करने के लिए कार्यवाही की गई थी। तत्कालीन मुख्यमंत्री ने बैंक के अवैतनिक सचिव श्री के० पी० गुप्ता, प्रबंधक एम० ए० हैदरी और ऋण लिपिक सहित बैंक के पदाधिकारियों और कर्मचारिवृंद के अभियोजन का आदेश दिया था। मार्च, 1977 में लोक सभा के मध्यावधि चुनाव के परिणामस्वरूप केंद्र में सरकार में परिवर्तन हुआ। अप्रैल, 1977 में पटना सचिवालीय अराजपत्रित कर्मचारी संघ ने द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध प्रधानमंत्री और संघ सरकार के गृहमंत्री को एक अभ्यावेदन प्रस्तुत किया। जून में द्वितीय प्रत्यर्थी के नेतृत्व वाली सरकार के स्थान पर श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाली सरकार प्रतिस्थापित की गई। कर्मचारी संघ ने 9 जुलाई, 1977 को नए मुख्यमंत्री से यह प्रार्थना करते हुए उन्हें अपने अभ्यावेदन की एक प्रति प्रस्तुत की कि द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की जांच कराई जाए। विस्तृत प्रक्रिया के पश्चात् तथा राज्यपाल से अपेक्षित मंजूरी अभिप्राप्त करने के पश्चात् सतर्कता विभाग द्वारा द्वितीय प्रत्यर्थी और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध एक दांडिक मामला संस्थित किया गया था। 19 फरवरी, 1979 को एक आरोप-पत्र फाइल किया गया था। बिहार राज्य द्वारा 19 फरवरी, 1979 को प्रत्यर्थियों के विरुद्ध फाइल किया गया आरोप-पत्र भारतीय दंड संहिता की धारा 420/466/471/109/120-ख के अधीन तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(2) के साथ पठित धारा 5(1)(क), 5(1)(ख) और 5(1)(घ) के अधीन अपराधों के लिए था। द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध आरोप यह था कि उसने, जो कि सभी तात्विक समय पर या तो बिहार के मंत्री अथवा मुख्यमंत्री रहे, अन्य अभियुक्त के साथ षड़यंत्र करके लोक सेवक के रूप में अपनी हैसियत का दुरुपयोग करते हुए, स्वयं को तथा अन्य प्रत्यर्थियों को पटना नगरीय सहकारी बैंक के लिए अहितकर धन-संबंधी फायदा अभिप्राप्त करने के लिए नवल किशोर सिन्हा तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दांडिक अभियोजन और अधिभार (सरचार्ज) कार्यवाहियों में हस्तक्षेप करने की ईप्सा की। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने 29 जुलाई, 1979 को मामले का संज्ञान किया था। जून, 1980 में बिहार मंत्रिमंडल में परिवर्तन हुआ और द्वितीय प्रत्यर्थी पुनः मुख्यमंत्री बने। 10 जून, 1980 को नीति संबंधी यह विनिश्चय किया गया था कि राजनीतिक द्वेष के कारण चलाए गए दांडिक मामले और राजनीतिक आंदोलन से संबंधित मामले वापस ले लिए जाएं। सरकार ने 24 फरवरी, 1981 को श्री एल० पी० सिन्हा को विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किया। बिहार सरकार के सचिव ने 25-2-1981 को जिला मजिस्ट्रेट को सतर्कता संबंधी दोनों मामलों को, जिनके अंतर्गत वह मामला भी है, जिससे न्यायालय का संबंध है, आयोजन से वापस लेने के सरकार के नीति संबंधी विनिश्चय के बारे में सूचित करते हुए एक पत्र लिखा। उनसे मामले को वापस लेने के लिए कदम उठाने का अनुरोध किया गया था।

17 जून, 1981 को श्री सिन्हा ने प्रत्यर्थी सं० 2, 3 और 4 के अभियोजन को वापस लेने की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन विशेष न्यायाधीश को इन चार आधारों पर एक आवेदन किया--(क) साक्ष्य को देखते हुए सफल अभियोजन की संभाव्यता का अभाव, (ख) राजनैतिक और वैयक्तिक विद्वेष के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का आलिप्त किया जाना, (ग) राज्य और लोक नीति के कारणों से अभियोग की असमीचीनता और (घ) अभियोजन के चालू रहने से बदली हुई स्थिति को देखते हुए लोक हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने तारीख 20-6-1981 वाले अपने आदेश द्वारा ईप्सित सम्मति दे दी। उक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया गया था। यह 14-9-1981 को खारिज कर दिया गया था और इसकी खारिजी के कारण यह अपील उद्‌भूत हुई है। वापसी के लिए आवेदन तथा सम्मति अनुदत्त करने वाले आदेश को निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी गई है--

(1) अभियोजन की वापसी गुणा गुण के आधार पर अन्यायपूर्ण थी। (2) यह उच्चतम न्यायालय द्वारा विभिन्न विनिश्चयों में निर्धारित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले सिद्धांतों के विरुद्ध है। (3) न तो लोक अभियोजक ने और न ही विशेष न्यायाधीश ने वापसी के लिए आवेदन करने में तथा सम्मति के लिए आदेश देने में मनोयोग से कार्य किया है। (4) श्री एल० पी० सिन्हा वापसी के लिए आवेदन करने में समक्ष नहीं थे चूंकि मामले का संचालन करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24(8) के अधीन की गई श्री ए० के० दत्ता की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी। और (5) मामले की परिस्थितियों को देखते हुए श्री सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं किया था बल्कि वे इस विषय में राज्य सरकार के विनिश्चय द्वारा प्रभावित और मार्गदर्शित थे इसी कारण से वापसी दूषित थी। उच्चतम न्यायालय की न्यायपीठ को निर्देशित की गई अपीलों में सांविधानिक विधि का कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों और दो न्यायाधीशों की न्यायपीठों द्वारा दिए गए विनिश्चय हैं जिनमें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 (पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 494) पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया। दो दांडिक अपीलें, 1983 की 48 और 49, मूलतः संविधान न्यायपीठ को निर्देशित की गई थीं। उस न्यायपीठ को, जिसने ये अपीलें निर्देशित की थीं, उन पूर्ववर्ती निर्णयों की शुद्धता के प्रति संदेह नहीं था। निर्देश का आदेश निम्नलिखित रूप में है—दोनों मामलों में विशेष इजाजत अनुदत्त की जाती है। याचिकाओं की सुनवाई के समय जिन भिन्न निर्वचनों वाले कतिपय विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया गया था, उनके कारण दांडिक मामलों को वापस लेने की शक्ति से संबंधित विधि विवाद्यकों को स्पष्ट करने तथा उन्हें विवाद की सीमा से परे रखने के लिए यह बेहतर होगा कि मामला पांच न्यायाधीशों की बृहत्त न्यायपीठ के समक्ष रखने के लिए माननीय मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष पेश किया जाए।" निर्देश के इसी आदेश तथा उस न्यायपीठ द्वारा जिसने पुर्नविलोकन याचिका की सुनवाई की थी, 1983 की दांडिक अपील सं० 48 और 49 में नंदिनी सत्पथी वाले मामले के विनिश्चय के तुरंत पश्चात् इस अपील की पुनः सुनवाई का निदेश देने के कारण यह मामला उच्चतम न्यायालय की न्यायपीठ के समक्ष आया। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—न्यायमूर्ति खालिद (अपनी और न्यायमूर्ति नटराजन की ओर से बहुमत निर्णय)—

धारा 321 के अधीन विधिमान्य आदेश करने के लिए तीन अपेक्षाओं की पूर्ति आवश्यक है—(1) आवेदन ऐसे किसी लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक द्वारा फाइल किया जाना चाहिए, जो कि वापसी के लिए आवेदन करने में सक्षम है, (2) उसे अवश्य ही मामले का भारसाधक होना चाहिए, (3) आवेदन को उस न्यायालय की, जिसके समक्ष मामला लंबित है, सम्मति प्राप्ति होनी चाहिए। यहां पर सभी तीनों अपेक्षाओं की पूर्ति हो गई है। प्रश्न यह है कि क्या लोक अभियोजक तथा न्यायालय द्वारा कृत्यों का उचित रूप से पालन किया गया था । किसी भी प्रक्रम पर किसी के द्वारा यह दलील नहीं दी गई थी कि लोक अभियोजक द्वारा किया गया आवेदन या यो असद्भावपूर्ण था अथवा वह सद्भावपूर्वक नहीं किया था । विशेष न्यायाधीश के विरुद्ध पक्षपात का कोई अभिकथन नहीं था। लोक अभियोजक द्वारा फाइल किए गए आवेदन में यह तथ्य प्रकट किया गया है कि उन्होंने केस डायरी और मामले से संबंधित सुसंगत सामग्री की परीक्षा कर ली है और यह कि वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मामला संस्थित किए जाने और उसका अन्वेषण किए जाने के समय विद्यमान परिस्थितियों को देखते हुए, मामला राजनैतिक द्वेष के आधार पर तथा केवल द्वितीय प्रत्यर्थी की प्रतिष्ठा को कम करने के लिए संस्थित किया गया था । लोक अभियोजक के इस अभिकथन को किसी दूषित हेतुक से उत्पन्न बताते हुए चुनौती नहीं दी गई है। यह साबित नहीं किया गया है अथवा यह इंगित नहीं किया गया है कि लोक अभियोजक अनुचित विचारों से प्रेरित हुए थे। (पैरा 69 और 70)

इस बात पर विस्तार से विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या विशेष लोक अभियोजक वापसी के लिए आवेदन करने में सक्षम थे । दलील यह दी गई है कि उसकी नियुक्ति दोषपूर्ण है क्योंकि पहले से की गई पूर्व लोक अभियोजक की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी। इस दलील पर उन तीन न्यायाधीशों के समक्ष, जिन्होंने प्रथमतः अपील की सुनवाई की थी, जोर दिया गया था और इस न्यायालय में समक्ष भी दोहराया गया है। तीनों न्यायाधीशों ने इस अभिवाक् को स्वीकार करने से इनकार किया कि चूंकि पूर्व लोक अभियोजक की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी, इसलिए विशेष लोक अभियोजक सक्षम लोक अभियोजक नहीं थे । न्यायालय ने इस निर्णय में दिए गए कारणों को स्वीकार किया तथा उसके समक्ष रखे गए अभिवाक् को अस्वीकार कर दिया। (पैरा 67)

धारा 321 के अधीन सम्मति देने वाले आदेश के विरुद्ध अपील करने के लिए अधिनियम में कोई उपबंध नहीं है। किंतु यह आदेश दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण योग्य है। धारा 397 उच्च न्यायालय अथवा सेशन न्यायाधीश को किसी निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में और किसी अवर न्यायालय की कार्यवाहियों की नियमितता के बारे में अधिकारिता प्रदान करती है। किसी निष्कर्ष या किसी परिणाम की वैधता, औचित्य अथवा शुद्धता पर विचार करते समय पुनरीक्षण न्यायालय मामले के तथ्यों और साक्ष्य का विस्तारपूर्वक निरूपण नहीं करता। पुनरीक्षण न्यायालय सामग्री पर केवल निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता और

औचित्य के संबंध में अपना समाधान करने के लिए विचार करता है और वह साक्ष्य पर पर विस्तार से विचार करने के पश्चात् निकाला गया अपना निष्कर्ष प्रतिस्थापित करने से विरत रहता है । (पैरा 88)

उच्चतम न्यायालय की यह घोषित नीति है कि उन्मोचन के विरुद्ध किए गए आदेश में भी तथ्यों और साक्ष्य की निरुद्देश्य जांच प्रारंभ न की जाए । उच्चतम न्यायालय स्वयं को तथ्यों और साक्ष्य के न्यायालय में संपरिवर्तित करने के लिए अनुज्ञात नहीं करेगा । उच्चतम न्यायालय कभी-कभार साक्ष्य और तथ्यों पर विचार करता है। यह बात ऐसी है जैसी कि होनी चाहिए । इस हितकारी स्वगृहीत प्रतिबंध से कोई विचलन लाभप्रद प्रक्रिया नहीं है। और न्यायालय भी इसकी सिफारिश नहीं करता । उच्चतम न्यायालय के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय के रूप में मामले के गुणागुण के आधार पर या तथ्यों और साक्ष्य के आधार पर की गई ऐसी कोई मताभिव्यक्ति, जो कि निचले न्यायालयों द्वारा व्यक्त मत के प्रतिकूल होगी, प्रभावित पक्षकार पर गंभीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालेगी और उच्चतम न्यायालय की यह नीति होनी चाहिए कि इस प्रतिषिद्ध आधार की अवहेलना न की जाए और अरुचिकर किंतु न्यायसंगत आलोचना को आमंत्रित न किया जाए। क्या उच्चतम न्यायालय को यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि दोषमुक्ति अथवा दोषसिद्धि के लिए कोई मामला है अथवा नहीं, साक्ष्य का निर्धारण करना है और स्वयं को एक विचारण न्यायालय के रूप में संपरिवर्तित करना है ? अथवा क्या उच्चतम न्यायालय को यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि क्या मामले की समाप्ति दोषमुक्ति या दोषसिद्धि में में होगी, पुन: विचारण ओर सैकड़ों साक्षियों की परीक्षा करने का आदेश करना है ? इन दोनों निष्कर्षों में से प्रत्येक धारा 321 की परिधि के बाहर है । ऐसा केवल तभी किया जा सकता है यदि न्यायालय धारा 321 की पुन: रचना करे। (पैरा 89)

जब मजिस्ट्रेट अपने आदेश में यह कथन कर देता है कि उसने सामग्री पर विचार किया है, तो उच्चतम न्यायालय के लिए उस कथन को स्वीकार न करना उचित नहीं होगा । उचित यही होगा कि यह अभिनिर्धारित किया जाए कि मजिस्ट्रेट ने मामले के सुसंगत पहलुओं पर वस्तुपूरक रूप से विचार करने के पश्चात् सम्मति दी थी। इस प्रकार के मामलों में मजिस्ट्रेट की त्रुटि निकालना धारा 321 की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करना होगा, जब तक कि आदेश से यह प्रकट न हो कि मजिस्ट्रेट इस बात पर विचार करने में असफल रहा कि क्या आवेदन लोक नीति और न्याय के हित में सद्भावपूर्वक किया गया है न कि विधि की प्रक्रिया को निष्फल करने या उसका दमन करने के लिए किया गया है। (पैरा 95)

धारा 321 लोक अभियोजक को निर्णय सुनाए जाने से पूर्व किसी भी प्रक्रम पर किसी मामले को वापस लेने की शक्ति देती है । इससे इस तथ्य का पूर्वानुमान हो जाता है कि आवेदन करने से पूर्व मामले में संपूर्ण साक्ष्य पेश किया गया होगा। जब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन कोई आवेदन किया जाता है, तब न्यायालय के लिए यह पता चलाने के वास्ते साक्ष्य का निर्धारण आवश्यक नहीं है कि क्या मामले का अंत दोषसिद्धि में अथवा दोषमुक्ति में होगा। यह दलील देना कि न्यायालय को, जब वह धारा 321 के अधीन सम्मति देने की अपनी सीमित शक्तियों का प्रयोग करता है, साक्ष्य का निर्धारण करना होगा और यह पता लगाना होगा कि क्या मामले का अंत दोषमुक्ति अथवा दोषसिद्धि में

होगा, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की पुनःरचना करना होगा और न्यायालय को ऐसी शक्ति प्रदान करना होगा जो कि धारा 321 की स्कीम अनुध्यात नहीं करती। धारा 321 के अधीन दोषमुक्ति अथवा उन्मोचन के आदेश दांडिक मामलों में किए गए प्रसामान्य अंतिम आदेश जैसे नहीं हैं। इस निष्कर्ष को दोषमुक्ति की दशा में साक्ष्य के विस्तृत विचार-विमर्श अथवा उन्मोचन की दशा में प्रथमदृष्टता मामले के अभाव अथवा आधारहीनता का समर्थन प्राप्त नहीं होगा। न्यायालय को जो कुछ देखना है वह यह है कि क्या आवेदन सद्भावपूर्वक, लोक नीति और न्याय के हित में किया गया है न कि विधि की प्रक्रिया को निष्फल करने या उसका दमन करने के लिए किया गया है। न्यायालय को मामले के इन पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह देखना होगा कि क्या आवेदन में ऐसा अनौचित्य अथवा अवैधताएं हैं जिससे हम सम्मति दे दी जाए तो सुस्पष्ट अन्याय हो सकता है। इस मामले में वापसी के लिए किए गए आवेदन, सम्मति देने वाले आदेश तथा अन्य अनुवर्ती परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात्, न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वापसी के लिए आवेदन तथा सम्मति देने वाले आदेश उचित थे और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की सीमाओं के सर्वथा अंतर्गत थे। (पैरा 73)

न्यायालय का कृत्य, सम्मति देना है। धारा 321 न्यायालय पर सम्मति देने से पूर्व कारण अभिलिखित करने को बाध्यता नहीं डालती। तथापि तह अभिनिर्धारित किया गया नहीं माना जाना चाहिए कि न्यायालय की सम्मति स्वाभाविक है। जब लोक अभियोजक अपने समक्ष प्रस्तुत सभी सामग्री पर विचार करने के पश्चात् वापसी के लिए आवेदन करता है, तो न्यायालय ऐसी सामग्री पर विचार करने के पश्चात् या तो सम्मति देता है या सम्मति देने से इनकार कर देता है। इस धारा का यह अभिप्राय लगाते हुए अर्थान्वयन नहीं किया जाना चाहिए कि न्यायालय को जबकि वह सम्मति देता है एक विस्तृत तर्कसंगत आदेश करना होगा। यदि सम्मति देने वाले आदेश का अवलोकन करने पर किसी उच्चतर न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि ऐसा सम्मति उपलब्ध सामग्री पर संपूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात् दी गई थी, तो सम्मति देने वाला आदेश आवश्यक रूप से कायम रखा जाना चाहिए। लोक अभियोजक द्वारा वापसी के लिए आवेदन उसके समक्ष रखी गई सामग्री पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् सद्भावपूर्वक किया गया था और मजिस्ट्रेट द्वारा सम्मति देने वाला आदेश विभिन्न ब्यौरों पर सम्यक् ध्यान देने के पश्चात् किया गया था। धारा 321 की स्कीम को ध्यान में रखते हुए उच्चतम न्यायालय के लिए मामले के तथ्यों और साक्ष्य के बारे में एक विस्तृत जांच आरंभ करना अनुचित होगा या उसके पुनः विचारण का निदेश देना इस धारा के उद्देश्य और आशय का विनाशक होगा। इस पृष्ठभूमि के विपरीत अवलोकन करने पर, मामले के असमाधानप्रद तथ्यात्मक ब्यौरे के आधार पर अपील मंजूर करने और पुनः विचारण का निदेश देने से न तो न्याय के हितों की और न ही लोकहित की अभिवृद्धि होगी। (पैरा 79, 100 और 106)

धारा 321 के अधीन लोक अभियोजक की शक्ति के प्रयोग में उसकी निष्पक्षता पर विश्वास किया जाना चाहिए जबकि उसके विरुद्ध अनुचित रीति से कार्य करने का कोई आरोप न लगाया गया हो। उसके समक्ष राज्य सरकार द्वारा अपनाई गई रीति के बारे में उसकी संसूचना थी। उसके समक्ष केस डायरी का विवरण तथा अन्य सामग्री थी। उसने आवेदन फाइल करने से पूर्व उनका परिशीलन किया था। अतः इस मामले में धारा 321 के अधीन

उसके कार्य का इस धारा के सर्वथा अनुरूप पालन किया गया था। इस प्रकार जो प्रश्न शेष रह जाता है, वह यह है कि क्या वापसी के समर्थन में उसके द्वारा जिन आधारों पर जोर दिया गया था, वे विधि की दृष्टि में पर्याप्त थे। आवेदन से यह स्पष्टत: दर्शित होता है कि विशेष लोक अभियोजक ने मामले के तथ्यों पर अपने मनोयोग से कार्य किया था। सामान्यत: कोई व्यक्ति वापसी के आवेदन में उससे अधिक विस्तृत कथन की प्रत्याशा नहीं करेगा जितना कि प्रश्नगत आवेदन में अंतर्विष्ट हैं, जबकि वह धारा 321 की परिधि और उसमें प्रयोग की गई व्यापक भाषा को ध्यान में रखता है। इस मामले में यह अभिवाक् कि लोक अभियोजक द्वारा मनोयोग की कमी थी, केवल अस्वीकार किया जाना है। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट विशेष न्यायाधीश के रूप में कार्य कर रहे थे। सम्मति देने वाले अपने आदेश में उन्होंने अभिव्यक्त रूप से यह कथन किया कि उन्होंने सम्मति अनुदत्त करने से पूर्व मामले के सुसंगत अभिलेख का परिशीलन किया था। उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका में इस कथन को चुनौती नहीं दी गई थी। इसलिए यह धारणा की जानी चाहिए कि मजिस्ट्रेट ने आदेश पारित करने से पूर्व सुसंगत अभिलेख का परिशीलन कर लिया था। मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए इस कथन पर सम्यक् विश्वास करना चाहिए। विशेष न्यायाधीश के विरुद्ध कोई अन्य अभिकथन नहीं है। अत: विशेष न्यायाधीश के कृत्यों का भी धारा के अनुरूप पालन किया गया था। मामला पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय के समक्ष लाया गया। उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण खारिज कर दिया और ऐसा करते समय उसने अपनी शक्तियों का उचित रूप से प्रयोग किया क्योंकि न्यायालय के समक्ष जो सामग्री थी वह केवल खारिजी के आदेश से और न कि पुन: विचारण का आदेश देने वाला आदेश करने को न्यायोचित ठहराएगी। (पैरा 71 और 72)

लोक अभियोजक अपेक्षाकृत कम आक्षेपणीय हैं और इसलिए धारा 321 के द्वारा उन्हें दिया गया विवेकाधिकार परिपूर्ण नहीं है और वह एक परिसीमा के अध्यधीन है तथा वह परिसीमा उस न्यायालय की सम्मति है, जिसके समक्ष अभियोजन लंबित है। धारा 321, उसमें प्रयुक्त व्यापक भाषा को ध्यान में रखते हुए, लोक अभियोजक को किसी अभियुक्त के अभियोजन को वापस लेने के लिए समर्थ बनाती है, जिसके अधीन प्रयोग किया जाने वाला विवेकाधिकार न्यायालय द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामिग्री पर विचार करने के पश्चात् और वह भी मामले के किसी भी प्रक्रम में, दी गई सम्मति मात्र से नियंत्रित है। यह धारा मजिस्ट्रेट द्वारा सम्मति देते समय एक तर्कसंगत आदेश देने पर जोर नहीं देती। इस धारा की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है, वह केवल यह देखना है कि लोक अभियोजक ने सद्भावपूर्वक कार्य किया है और यह कि मजिस्ट्रेट का यह समाधान हो गया है कि लोक अभियोजक द्वारा प्रयोग किया गया विवेकाधिकार उचित है। (पैरा 75 और 87)

चूंकि धारा 321 में उन आधारों के संबंध में कोई मार्गदर्शन नहीं दिया गया है जिन पर वापसी के लिए आवेदन किया जा सकता है, अत: ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांत इस धारा तथा इसकी पूर्ववर्ती धारा 494 के अधीन विनिश्चित मामलों के प्रति निर्देश करके अभिनिश्चित किए जाते हैं। न्यायालय के समक्ष उद्धृत की गई सब नज़ीरों पर इस कारण से विचार करने की प्रस्थापना नहीं की गई कि उच्चतम न्यायालय को अपने कई विनिश्चियों में इस प्रश्न के

1986(12) eILR(PAT) SC 41

सभी पहलुओं पर विचार करने का अवसर मिला। यह कहना पर्याप्त होगा कि विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों में, लोक नीति, प्रशासन का हित, राज्य के कारणों से अभियोजन की कार्यवाही चलाने की असमीचीनता और साक्ष्य की कमी उन विनिश्चयों में मामलों के विशिष्ट तथ्यों और उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करते हुए कई मामलों में वापसी के लिए उचित आधार समझे गए थे और कतिपय अन्य मामलों में वापसी के लिए उचित आधार नहीं समझे गए थे। बिहार राज्य **बनाम** राम नरेश पांडे (1957 एस० सी० आर० 279) वाला मामला एक ऐतिहासिक मामला है जिसमें यथार्थता और निश्चितता के साथ इस विषय पर विधि अधिकथित की गई है। इस विनिश्चय में न्यायालय और लोक अभियोजक के कृत्यों का यथोचित वर्णन किया है। (पैरा 91, 92)

पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करना और उस आदेश को अपास्त करना, जिसके पुनर्विलोकन की ईप्सा की गई है, एक ही बात नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 137 के अधीन उच्चतम न्यायालय के पास उसके द्वारा सुनाए गए किसी निर्णय अथवा किए गए किसी आदेश का पुनर्विलोकन करने की विशेष शक्ति है। किसी दांडिक मामले में पारित किसी आदेश का केवल तभी पुनर्विलोकन किया जा सकता है और उसे अपास्त किया जा सकता है जबकि अभिलेख से त्रुटियां प्रकट हों। इस मामले में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है कि किन कारणों अथवा आधारों से न्यायाधीश यह आदेश पारित करने के लिए प्रेरित हुए, क्योंकि विद्वान् न्यायाधीश जानबूझकर आदेश में अपने कारणों और "विभिन्न आधारों" का उल्लेख करने से विरत रहे। यदि निर्णय पुनर्विलोकन याचिका में पारित आदेश के द्वारा अपास्त किया गया था, तो विद्वान् न्यायाधीश ने निश्चित रूप से ऐसा करने के लिए एक पृथक् आदेश द्वारा अपने कारण दिए होंगे। ऐसा नहीं किया गया है। आदेश में जो कथन किया गया, वह यह है कि पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार की गई थी। अतः अपील की पुनः सुनवाई का निदेश केवल इस बात का अवलोकन करने के लिए कारण अभिनिश्चित करना हो सकता है कि क्या निर्णय के अपास्त किए जाने की आवश्यकता है। न्यायालय लंबी दलीलों को सुनने के पश्चात् पूर्ववर्ती निर्णय में अभिलेख को देखने से ही प्रकट किसी त्रुटि को पाने में समर्थ नहीं हो सका। द्वितीय आदेश में दिया गया निदेश अपील की पुनः सुनवाई के लिए था। पुनर्विलोकन वाले आदेश द्वारा इस आकांक्षा को अपास्त किया गया है और न ही दर्शाए गए अभिलेख को देखने से ही कोई त्रुटि दृष्टिगोचर होती है, न्यायालय के मतानुसार मूल आदेश को कायम रखा जाना चाहिए, जिनका अर्थ यह है कि इसे अभिपुष्ट करते हुए अपील खारिज की जानी चाहिए। (पैरा 54, 55, 56 और 57)

न्यायमूर्ति वेंकटरामय्या (बहुमत निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए)—

इस कारण से, कि न्यायालय उसके समक्ष दोषारोपित किए गए किसी अभियुक्त को मुक्त कर देता है अथवा दोषमुक्त कर देता है, न्यायालय के इस बारे में यह नहीं माना जा सकता कि उसने अपराध के बारे में समझौता कर लिया है। भ्रष्टाचार, जो कि मुख्य रूप से उच्च पदस्थ व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, शक्ति से दबा दिया जाना चाहिए। परंतु ऐसा करने में न्यायालय को भावनाओं के वश में आकर कारण को दृष्टि ओझल नहीं कर देना चाहिए। न्यायालय सदैव ही उस सामग्री के आधार पर कार्य करता है जो उसके समक्ष प्रस्तुत की जाती है और यदि उसका निष्कर्ष यह है कि वह सामग्री अभियुक्त को अपराध से संबद्ध

करने के लिए पर्याप्त नहीं है तो उसे इस तथ्य के बावजूद भी, कि वह अपराध, जिसके बारे में परिवाद किया गया है, एक गंभीर अपराध है, यथास्थिति, अभियुक्त को मुक्त अथवा दोषमुक्त करना होगा। इसी प्रकार से यदि न्यायालय की सम्मति से सुआधारित कारणों के आधार पर लोक अभियोजक द्वारा मामले को वापस ले लिया गया है तो उच्चतम न्यायालय वापस लिए जाने के आदेश में बहुत कम हस्तक्षेप करेगा। इस मामले में यदि विशेष न्यायाधीश ने वापस लेने के लिए आवेदन को नामंजूर कर दिया है और उच्च न्यायालय ने उस आदेश को अभिपुष्ट कर दिया है तो उच्चतम न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उस आदेश में हस्तक्षेप नहीं करेगा। ऐसा होने पर भी यदि विशेष न्यायाधीश ने वापस लिए जाने को अनुज्ञात कर दिया है किंतु उच्च न्यायालय ने उस आदेश को उलट दिया है तो भी उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय के आदेश में हस्तक्षेप नहीं करेगा। किंतु यह मामला ऐसा मामला है जिसमें विशेष न्यायाधीश ने अभियोजन से वापस लिए जाने को अनुज्ञात कर दिया था और वापस लिए जाने के उक्त आदेश को उच्च न्यायालय और साथ ही उच्चतम न्यायालय द्वारा पहले सुनाए गए बहुमत निर्णय के द्वारा भी अभिपुष्ट कर दिया गया है। (पैरा 37)

न्या० तुलज़ापुरकर के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायाधीशों ने, जिन्होंने विशेष न्यायाधीश के निर्णय के बाद गुणागुण के आधार पर मामले में कार्यवाही की थी, यह राय व्यक्त की कि वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञा उचित रूप से दी गई थी। इन परिस्थितियों में इस मामले में भिन्न मत अपनाना कठिन है। अपील के खारिज किए जाने के पश्चात् पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार केवल इसलिए कर लिया गया था क्योंकि नंदिनी सत्पथी का मामला तत्पश्चात् पूर्ववर्ती विनिश्चयों के पुनर्विलोकन के लिए बृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित किया गया था। जबकि पूर्ववर्ती विनिश्चयों को ज्यों का त्यों रहने दिया था तो इस बात का कोई औचित्य नहीं है कि इस न्यायालय के उस विनिश्चय को उलट दिया जाए जिसके द्वारा कि अपील पहले ही खारिज कर दी गई थी। इस मामले में इस असाधारण प्रक्रिया को अपनाए जाने के लिए कोई औचित्य नहीं है। इस प्रक्रिया द्वारा उच्चतम न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय को उलटा जाना स्वयं में उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की अंतिमता को ही प्रश्नगत करता है और इस न्यायालय में निहित पुनर्विलोकन की शक्ति के दुरुपयोग की कोटि में आता है, विशेष रूप से आपराधिक मामलों में। इस ओर ध्यान देना होगा कि आपराधिक मामलों में पुनर्विलोकन की शक्ति देश में किसी भी अन्य न्यायालय को नहीं दी गई है। न्यायालय का यह मत है कि न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र के बहुत निर्णय में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। इस मामले को उच्चतम न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय के विरुद्ध अपील के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। (पैरा 43, 49)

बिहार राज्य **बनाम** राम नरेश पांडे और राजेन्द्र कुमार वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित भलीभांति सुनिश्चित सिद्धांतों के आधार पर निर्णय किए जाने पर इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए कोई मामला साबित नहीं किया गया है। उस विधिक स्थिति से असहमति प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं है जो कि उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों में अभिव्यक्त की गई है। यदि विधि में कोई परिवर्तन करना आवश्यक है तो यह कार्य संसद् का है कि वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 में आवश्यक संशोधन करे। (पैरा 47)

1986(12) eILR(PAT) SC 41

यह कहना कठिन है कि लोक अभियोजक ने मामले के बारे में विचारपूर्वक कार्य नहीं किया है अथवा उसने स्वयं अनुचित तरीके से आचरण किया है। यदि उसके समक्ष की सामग्री को ध्यान में रखते हुए लोक अभियोजक ने यह मत अपनाया है कि अभियुक्त को दोषसिद्ध करना संभाव्य नहीं था तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त है। न्यायालय को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि लोक अभियोजक के कार्य की प्रकृति किस प्रकार की होती है। तत्र कोई उत्पीड़क नहीं होता है। वह किसी संविवाद के बारे में किसी साधारण पक्षकार का प्रतिनिधित्व नहीं करता है किंतु उस सार्वभौम का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी बाध्यता पक्षपातरहित कार्य करने में उसी प्रकार से बाध्यताकारी है जैसे कि उसे साधारण स्थिति में कार्य करने की बाध्यता होती है और इसलिए उसका हित किसी आपराधिक अभियोजन में यह नहीं होता है कि वह मामले में विजय प्राप्त कर लेगा किंतु यह हित होता है कि न्याय किया जाएगा। इस प्रकार वह एक विशेष तथा निश्चायक भाव में देश का सेवक होता है जिसका दोहरा उद्देश्य यह होता है कि अपराधी नहीं बच पाएगा या निर्दोष को दंड नहीं दिया जाएगा। उसे पूरे बल और तन्मयता से अभियोजन करना होता है और वास्तव में उसे ऐसा करना भी चाहिए। परंतु जब वह दृढ़ता से कार्य कर रहा होता है तो उसे गलत कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं होती। उसका कर्त्तव्य उस अनुचित तरीके से दूर रहना होता है जो कि गलत दोषसिद्धि के लिए अपनाया जाता है क्योंकि उसे न्याय को उजागर करने के लिए प्रत्येक वैध तरीके को अपनाना होता है। किसी अभियुक्त का यह विशेषाधिकार होता है कि जब कभी राज्य द्वारा अभियोजन चलाया जाता है तो वह गंभीर आरोपों को अंतर्वलित करने वाले सभी मामलों में लोक अभियोजक द्वारा अभियोजित किया जाए। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अधीन किसी लोक अभियोजक के निर्णय में बहुत ही आसानी से हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, जब तक कि न्यायालय इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता कि उसने विचारपूर्वक कार्य नहीं किया है अथवा उसका विनिश्चय सद्भावपूर्ण नहीं है। (पैरा 45)

मुख्य न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती (अपनी तथा न्यायमूर्ति ओझा की ओर से अल्पमत निर्णय)—

अपील की सुनवाई तभी की जा सकती थी यदि पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार की गई थी और मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त कर दिया गया और इसलिए स्पष्ट रूप से जबकि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ ने अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश दिया था तो यह आवश्यक विवक्षा द्वारा अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उसने पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर कर लिया था और मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त कर दिया था। न्यायालय इस बात की इजाजत नहीं दे सकते कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के आदेश के सही अर्थ और प्रभाव को इस आधार पर निरर्थक बना दिया जाए कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा तनिक अनुपयुक्त भाषा का प्रयोग किया गया था। न्यायालय को अवश्य ही आदेश के प्रकट स्वरूप की अपेक्षा उसके सार पर ध्यान देना चाहिए। अतः न्यायालय अवश्य ही इस आधार पर अग्रसर होता है कि न्यायपीठ के आदेश को अपास्त कर दिया गया था और पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश दिया गया था। (पैरा 12)

सर्वोच्च न्यायालय अंतिम न्यायालय है जिसके निर्णय के विरुद्ध आगे अपील नहीं की जा सकती, अतः उसके लिए अपने द्वारा किए गए किसी आदेश के लिए कारण देने की कोई विधिक बाध्यता नहीं है। सामान्य रूप से इस बात का पता चलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका का उच्चतम न्यायालय बिना कोई कारण दिए उत्प्रेषण (सरशियोरेराई) की रिट स्वीकार कर लेता है। किंतु मात्र इस कारण से सर्वोच्च न्यायालय के लिए कारण देने के कोई विधिक बाध्यता नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय तनिक भी कोई कारण दिए बिना मामलों का निपटारा कर दे। यह विशेष रूप से न्यायोचित और वांछनीय है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने द्वारा दिए गए आदेश के लिए कारण दर्शित करे। किंतु जब सर्वोच्च न्यायालय उस आदेश को अपास्त करते हुए पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करते हुए उसका इस आधार पर निपटारा करता है कि अभिलेख पर की कोई प्रकट गलती है तो यह सर्वोच्च न्यायालय के लिए वांछनीय होगा कि पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करने के लिए कारण न दिए जाएं। जहां सर्वोच्च न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि अभिलेख पर की कोई प्रकट गलती है और वह आदेश जिसका पुनर्विलोकन करना ईप्सित है, उसे अवश्य ही अपास्त किया जाना चाहिए और मामले की अवश्य ही पुनः सुनवाई की जानी चाहिए तो यदि यह मत अपनाए जाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय कारणों को दर्शित करता है तो पराजित पक्षकार पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय की पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के लिए कारण देने आवश्यक हैं तो पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ को मामले पर पूर्ण रूप से और विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिए और इस बात को स्पष्ट करना चाहिए कि उसके मतानुसार मूल न्यायपीठ द्वारा दिए गए कारणों में कौन-सी प्रकट गलती थी और अवश्य ही इसका यह परिणाम होगा कि यह मामले में पहले ही किए गए निर्णय के समान होगा और उसका पुनः सुनवाई करने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। पुनर्विलोकन याचिका की मंजूर करते हुए और उस आदेश को, जिसके बारे में पुनर्विलोकन करना ईप्सित है, यहां तक कि मामले की पुनः सुनवाई करने के पूर्व भी उससे यह निदेश मिल जाएगा कि मामले की किस प्रकार सुनवाई की जाए और ऐसे निदेश से चाहे वह आबद्धकर अथवा प्रेरणापूर्ण स्वरूप का हो, अधिकांश रूप से मामले की सुनवाई के समय पराजित पक्षकार पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। (पैरा 13)

अब यह सुस्थापित विधि है कि कोई दांडिक कार्यवाही ऐसी कार्यवाही नहीं है जिससे कि किसी प्राइवेट शिकायत का ही प्रतिसमर्थन किया जाए किंतु यह एक ऐसी कार्यवाही है जिसे समाज के हित में अपराधी को दंड दिए जाने के उद्देश्य के लिए संस्थित किया जाता है। यह समाज में स्थायित्व तथा सुव्यवस्था कायम रखने के लिए होती है। यह कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिनसे अपराध गठित होते हैं और किसी नागरिक को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह दंड विधि के क्रियान्वयन को, अपराधी को जानकारी में लाने के उद्देश्य के लिए, गतिशील बनाए। यदि कोई नागरिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करा सकता है अथवा परिवाद फाइल कर सकता है और दंड विधि के क्रियान्वयन को गतिशील कर सकता है और ऐसा किए जाने के लिए उसके सुने जाने के अधिकार को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता तो ऐसे कोई कारण दृष्टिगत नहीं होते कि ऐसा कोई नागरिक, जिसे यह मालूम हो जाता है कि समाज के विरुद्ध किसी अपराध के लिए कोई अभियोजन गलत रूप से वापस लिया जा रहा है, ऐसे वापस लिए जाने का विरोध क्यों नहीं कर सकता। यदि वह किसी आपराधिक अभियोजन के लिए

परिवादी या उसको संस्थित करने वाला हो सकता है तो वह समान रूप से इस बात के लिए हकदार होना चाहिए क वह उस आपराधिक अभियोजन को वापस लेने का विरोध भी कर सके जो उसके कहने से पहले ही प्रारंभ किया जा चुका था। यदि वह अपराध जिसके लिए अभियोजन प्रारंभ किया जा रहा है, ऐसा अपराध है जो कि समाज के विरुद्ध है और मात्र वह किसी व्यक्ति के विरुद्ध अपराध नहीं है तो समाज के किसी भी सदस्य को अभियोजन को संस्थित करने का अवश्य ही अधिकार होना चाहिए और साथ ही ऐसे अभियोजन के वापस लिए जाने का विरोध करने का अधिकार भी होना चाहिए, यदि वह पहले ही संस्थित किया जा चुका है। यदि वह अभियोजन के वापस लिए जाने का विरोध करने का हकदार था तो सुतराम अवश्य ही इसका यह अर्थ होगा कि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा उसके विरोध किए जाने को नामंजूर किए जाने पर वह उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण आवेदन करने के लिए हकदार था और उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन को खारिज किए जाने पर उसे उच्चतम न्यायालय में अपील करने का अधिकार भी था। (पैरा 14)

निस्संदेह यह बात सच है कि द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने का प्रभाव यह हुआ कि वह उन अपराधों से मुक्त हो गया जिनके लिए उसका विचारण किया जाना ईप्सित था किंतु यह उन्मोचन का एक आदेश नहीं था जिसे कि उच्च न्यायालय के समक्ष उसके द्वारा फाइल किए गए आवेदन के पुनरीक्षण में अपीलार्थी द्वारा चुनौती दी गई थी किंतु एक ऐसा आदेश था जिससे कि अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए अनुमति दी गई थी जिसे उसके द्वारा चुनौती दी गई थी। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 227 और 239 के अधीन दिए गए उन्मोचन के आदेश की अनुरूपता ही एक समान नहीं है क्योंकि उस स्थिति में यथास्थिति सेशन न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट उस समस्य सामग्री पर विचार करता है जो कि उसके समक्ष होती है और तब इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है अथवा उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप निराधार हैं। किंतु इस मामले में जबकि मजिस्ट्रेट धारा 321 के अधीन अभियोजन को वापस लिए जाने के लिए अनुमति देता है तो न्यायिक प्रयोग का यह मामला बिल्कुल भिन्न होता है जिसका कि उसे पालन करना होता है और इसलिए यह कहना ठीक नहीं होगा कि जब उच्च न्यायालय अभियोजन से वापस लेने के लिए अनुमति देते हुए मजिस्ट्रेट के आदेश को अपास्त करता है तो उच्च न्यायालय वास्तव में उन्मुक्ति के उस आदेश को, जो कि मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया था, अपास्त करता है। उस स्थिति में उच्च न्यायालय जो कार्य करता है, वह इस बात से कुछ अधिक कार्य नहीं होता कि उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाए कि अभियोजन से वापस लिया जाना गलत अथवा अनुचित था और यह कि अभियुक्त के विरुद्ध अभियोजन चालू रहना चाहिए और अंततोगत्वा यदि पर्याप्त साक्ष्य विद्यमान नहीं है अथवा आरोप निराधार हैं तब अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया जाएगा। (पैरा 15)

उच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली पुनरीक्षण की शक्ति जो धारा 397 के अधीन दी गई है, बहुत ही विस्तृत शब्दों में व्यक्त की गई है और इस शक्ति का प्रयोग करने में वह इस बात के लिए अपना समाधान कर सकता है कि मजिस्ट्रेट द्वारा पारित कोई आदेश सही, वैध अथवा उचित है अथवा ऐसे मजिस्ट्रेट द्वारा की गई कार्यवाहियां नियमित हैं। जब उच्चतम न्यायालय धारा 397 के अधीन, पुनरीक्षण की शक्तियों का प्रयोग करते हुए उच्च-

न्यायालय द्वारा किए गए किसी आदेश के विरुद्ध, अपील की सुनवाई कर रहा होता है तो वह वैसी ही पुनरीक्षण की शक्ति होती है जिसका कि यह न्यायालय प्रयोग कर रहा होता है और इसलिए यह न्यायालय अनुचित रूप से मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए आदेश और उच्च न्यायालय द्वारा पुष्ट किए गए उस आदेश में अवश्य ही हस्तक्षेप कर सकता है, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि वह आदेश गलत, अवैध अथवा अनुचित है। वास्तव में ऐसे मामले में, जैसा कि प्रस्तुत मामला है, जहां कि ऐसे समय में लोक प्रशासन के स्वच्छ होने के बारे में प्रश्न किया जाता है जबकि नैतिक मूल्यों का घोर ह्रास होता है और लोक जीवन के चरित्र के बारे में ऊहापोह होती प्रतीत होती है, तो उच्चतम न्यायालय को यह मानना चाहिए कि उस पर वह कार्य करने की बाध्यता है जिसके लिए कि वह समाज के प्रति उत्तरदायी है और उस विषय में जब कभी यह अभिकथन किया जाता है कि भ्रष्ट आचरण अथवा आपराधिक न्यास भंग ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाता है जो कि उच्च सरकारी पद पर पदासीन है, सावधानीपूर्वक इस बात की जांच करे कि अभियोजन को गलत रूप से वापस ले लिया गया है और इस विषय में तनिक भी चिंता नहीं होनी चाहिए कि उच्च न्यायालय में अथवा निचले न्यायालय में वापस लिए जाने के लिए ऐसी सम्मति लेने में कितने न्यायाधीश संबद्ध रहे हैं। यहां प्रस्तुत मामले में निस्संदेह यह बात सच है कि अभियोजन को वापस लिए जाने के लिए अनुमति देने का आदेश विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया था और उच्च न्यायालय द्वारा उसे कायम रखा गया था और उच्चतम न्यायालय की न्यायपीठ के 3 न्यायाधीशों में से दो, जिन्होंने कि प्रारंभ में अपील की सुनवाई की थी, उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से सहमत थे किंतु इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के अनुसार, जिसमें कि 3 न्यायाधीश थे, पूर्ववर्ती न्यायपीठ के निर्णय में अभिलेख पर की प्रकट गलती थी। अत: संस्थाओं के गणित का उच्चतम न्यायालय को प्रेरित करने के इस उद्देश्य से आश्रय नहीं लिया जा सकता कि यह न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपने विवेक का प्रयोग न करें। (पैरा 15)

उत्तरावर्ती सरकार के लिए यह बात पूर्ण रूप से विधि पूर्ण होगी कि वह, पूर्व मुख्यमंत्री अथवा ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जो, जांच आयोग के द्वारा पहले से ही की गई जांच के बिना, पूर्ववर्ती शासन के अधीन उच्च राजनीतिक पद धारण करता है, अभियोजन प्रारंभ करे परंतु वास्तव में अन्वेषण पक्षपातरहित और वस्तुनिष्ठ हो और ऐसा अभियोजन प्रारंभ करने के लिए पर्याप्त सामग्री होनी चाहिए। विद्यमान विधि के अधीन इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि किसी भी लोक सेवक को मिथ्या अथवा तंग करने वाले अभियोजन अथवा भ्रष्ट आचरण के आरोपों के आधार पर तंग नहीं किया जाएगा, पर्याप्त रक्षोपाय विद्यमान हैं क्योंकि कोई भी ऐसा अभियोजन भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 6 अथवा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197 के अधीन मंजूरी के बिना प्रारंभ नहीं किया जाएगा। इन रक्षोपायों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यदि उनसे किसी विशेष मामले में संरक्षण प्राप्त नहीं होता है तो वे अपर्याप्त हैं क्योंकि किसी निर्दोष अभियुक्त के संरक्षण करने के लिए मजिस्ट्रेट हमेशा ही होता है क्योंकि यदि मजिस्ट्रेट की राय में अभियुक्त के विरुद्ध पर्याप्त साक्ष्य नहीं है और उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि वह निराधार है, तो मजिस्ट्रेट तुरंत ही किसी साक्ष्य के लिए बिना अभियुक्त को उन्मोचित कर सकता है। (पैरा 18)

जो मूल सिद्धांत है वह यह है कि वापस लेने की ईप्सा केवल लोक न्याय के हेतुक को बढ़ावा देने के लिए की जा सकती है। सबसे बड़ा कारण न्याय प्रशासन का हित होना चाहिए। यह वह मूल कारण है जिसके आधार पर इस प्रश्न का विनिश्चय किया जाना चाहिए कि क्या अभियोजन से वापस लेने के लिए किसी आवेदन को कायम रखा जा सकता है। अतः इस ओर ध्यान देना होगा कि अभियोजन से वापस लेने के लिए लोक अभियोजक के किसी आवेदन को इस आधार पर कायम नहीं रखा जा सकता कि सरकार साक्ष्य प्रस्तुत करना नहीं चाहती और अभियुक्त के खिलाफ अभियोजन चालू नहीं रखा जा सकता या यह कि सरकार इस बात को समीचीन नहीं समझती कि अभियोजन को चालू रखा जाए। लोक अभियोजक को कोई ऐसा आधार प्रस्तुत करना चाहिए जिससे कि लोक न्याय के हेतुक को बढ़ावा मिले या वह गतिमान हो। यदि लोक अभियोजक यह दर्शित करने में समर्थ हो जाता है कि वह आरोप को कायम रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सकेगा तो उसके द्वारा अभियोजन से वापस लेने के लिए वैध रूप से आवेदन किया जा सकता है। (पैरा 28)

यदि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 228 के या धारा 240 के अधीन न्यायालय द्वारा आरोप विरचित कर लिया गया है तो लोक अभियोजक को इस बात की स्वतंत्रता नहीं होगी कि वह इस आधार पर अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन करे कि अभियोजन के समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। कारण यह है कि धारा 228 के अधीन न्यायालय द्वारा केवल ऐसी स्थिति में आरोप विरचित किया जा सकता है जबकि न्यायालय की यह राय हो कि यह उपधारणा करने के लिए आधार विद्यमान है कि अभियुक्त ने कोई अपराध किया है और इसी प्रकार से धारा 240 के अधीन न्यायालय केवल ऐसी स्थिति में आरोप विरचित कर सकता है जहां उसकी राय है कि यह उपधारणा के करने लिए आधार विद्यमान है कि अभियुक्त ने अपराध किया है। न्यायालय इन दोनों दशाओं में उस सामग्री पर ध्यानपूर्वक विचार करता है जो कि पुलिस रिपोर्ट में होती है और धारा 173 के अधीन जो दस्तावेज उसके साथ भेजी जाती है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अभियुक्त के विरुद्ध प्रथम दृष्ट्या मामला बन गया है और इसलिए आरोप विरचित किया जाना चाहिए। जब भली-भांति विचार करने के पश्चात् न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है और आरोप विरचित कर लिया जाता है तो यह बात समझ में आनी कठिन है कि उसी सामग्री के आधार पर न्यायालय को कैसे इस बात के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि वह यह अभिनिर्धारित करे कि अभियोजन को कायम रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। लोक अभियोजक को इस बात के लिए कैसे अनुज्ञात किया जा सकता है कि सामग्री के उसी आधार पर वह मुकर जाए? ऐसा करने से न्याय का उपहास होगा और न्याय प्रशासन को धक्का पहुंचेगा। वास्तव में यदि कोई सामग्री ऐसी है जो बाद में जानकारी में आई है जिससे कि अभियोजन के मामले की सत्यता पर संदेह किया जा सकता है तो लोक अभियोजक निश्चित रूप से इस आधार पर अभियोजन को वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है कि अभियोजन सुआधारित नहीं है। (पैरा 29)

जहां आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है किंतु पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किए गए वारंट मामले में आरोप विरचित नहीं गया है, वहां न्यायालय को उसी विवाद्यक पर धारा 239 के अधीन विचार करना होता है और इससे अधिक निश्चय के साथ लोक न्याय के

हेतुक को गति अथवा बढ़ावा मिलता है, यदि न्यायालय धारा 239 के अधीन विवाद्यक की परीक्षा करता है और अपने समक्ष सामग्री पर न्यायपूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात् अभियुक्त को मुक्त करने के लिए अपने कारण देता है, बजाए इसके कि लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाए। जब अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो उस समय सदैव ही लोगों के दिमाग में बुरी भावनायें उत्पन्न होती हैं क्योंकि मामले के बारे में न्यायालय के समक्ष बहस किए जाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया गया है और न्यायालय ने अपना न्यायिक अधिमत प्रकट नहीं किया है। किंतु यदि इसके विपरीत न्यायालय सामग्री की परीक्षा करता है और धारा 239 के अधीन अभियुक्त को दोषमुक्त करता है तो वह जनता का अधिक विश्वास प्राप्त करता है क्योंकि बजाय इसके कि अभियोजन को वापस लिया जाए और उसे न्यायिक संवीक्षा के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाए, न्यायिक अधिमत से जो कि न्यायालय के समक्ष सामग्री का जायजा लेने और उसका मूल्यांकन करने पर आधारित है, सदैव ही अधिक विश्वास उत्पन्न होगा क्योंकि इन समस्त मामलों में मार्गदर्शक विचारधारा लोक न्याय की अनिवार्यता है और यह नितांत आवश्यक है कि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु वह किया गया प्रतीत भी होना चाहिए। (पैरा 30)

इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि प्रत्येक अपराध के पीछे कोई-न-कोई सामाजिक अथवा आर्थिक हेतुक होता है और यदि राज्य ऐसा अनुभव करता है कि यदि अपराध के सामाजिक अथवा आर्थिक हेतुक के समाप्त करने अथवा उसका उन्मूलन करने के लिए अभियोजन को चालू न रख कर पूर्ति हो जाएगी तो राज्य को स्पष्ट रूप से यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह मामले का अभियोजन से वापस ले ले। लोक शांति का एक बृहत्तर कारण हो सकता है, उससे बड़ा कारण लोक न्याय का और उससे भी गहन कारण किसी स्थान पर लंबे समय के लिए सुरक्षा की बढ़ोत्तरी का हो सकता है। किसी ऐसे उपद्रवपूर्ण वातावरण में अव्यवस्थित स्थिति अथवा एकरूपता की व्यवस्था के लिए हो सकता है जिससे कि राज्य वैध रूप से इस बात के लिए प्रेरित हो सकता है कि वह बृहत्तर लाभ के लिए कि लंबित मामले का त्याग कर दे। लोक न्याय की अनिवार्यता ऐसे मामलों में किसी विशेष मुकदमेबाजी के विधिक न्याय के मुकाबले में श्रेष्ठतर अथवा ऊपर हो सकती है। सांप्रदायिक उपद्रव, जिनको कि शांतिपूर्ण रूप से तय किया जा सकता है, एक या दो लंबित अभियोजनों के कारण पुनः नहीं भड़कने चाहिएं। ऐसे श्रम विवाद जिनसे कि आपराधिक मामले उत्पन्न होते हैं, जब वे तय हो जाते हैं तो वे संभवतः इस बात का एक दूसरा उदाहरण बन जाते हैं जहां कि बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में लोक न्याय के हित में यह उचित हो सकता है कि अभियोजन को वापस ले लिया जाए। मोटे तौर से वे ऐसे कारण हैं जिनको कि लोक न्याय की परिधि के अंतर्गत इसलिए लाया जा सकता है जिससे कि अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन न्यायोचित ठहराया जा सके। किंतु वास्तव में यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि इस विषय में कोई ऐसा सुनिश्चित नियम नहीं है जिसे अधिकथित किया जा सके। न ही मामलों का कोई ऐसा प्रवर्ग है जिनमें कि यह परिभाषित किया जा सके जिनमें कि अभियोजन के लिए किसी आवेदन को वैध रूप से किया जा सकता हो। न्याय के उद्देश्यों को बढ़ावा देने के लिए जो बात आवश्यक है, उसे ध्यान में रखते हुए यह बात अवश्य ही प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। (पैरा 31)

1986(12) eILR(PAT) SC 41

न्यायालय को अपने न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग ऐसी सामग्री के आधार पर करना होता है जो कि उस समय उसके पास उपलब्ध हो और ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग करने में न्यायालय को अपना यह समाधान कर लेना होता है कि लोक अभियोजक के कार्यपालक कृत्य का प्रयोग अनुचित रूप से नहीं किया गया है और यह कि वे आधार जो कि मामले के वापस लेने के लिए आवेदन के समर्थन में पेश किए गए हैं, लोक न्याय को बढ़ावा देने के लिए विधिपूर्ण आधार हैं। न्यायालय को इस विवेकाधिकार का प्रयोग यंत्रवत् नहीं करना होता है और वह सम्मति जिसके लिए आवेदन किया गया है, औपचारिकता मात्र के लिए अथवा मात्र पूछने के लिए नहीं दी जाती। न्यायालय को उस सामग्री पर विचार करना होता है जो उसके समक्ष प्रस्तुत की गई है और अपना यह समाधान करना होता है कि अनुमति दिए जाने से न्याय के हित की पूर्ति हो जाएगी। न्यायालय को उस समय, जबकि वह इस विषय में विचार कर रहा होता है कि क्या सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं, स्वयं लोक अभियोजक द्वारा कही गई बात को स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए और मात्र इस बात की परीक्षा करके अपनी संतुष्टि नहीं कर लेनी चाहिए कि क्या लोक अभियोजक ने इस बात पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है किंतु न्यायालय को अवश्य ही केवल अपना यह समाधान ही नहीं करना चाहिए कि वे आधार लोक न्याय के बढ़ावे के लिए संबद्ध अथवा सुसंगत हैं किंतु यह भी समाधान करना चाहिए कि क्या वे आधार वास्तव में समाधानप्रद रूप से सिद्ध हो गए हैं। अंतिम कसौटी जिसे कि इस बात का अवधारण करने में न्यायालय को लागू करना चाहिए कि किसी विशेष मामले में वे आधार विधिमान्य हैं, यह है कि लोक न्याय की अनिवार्यता मामले के वैध न्याय से ऊपर होती है ताकि लोक न्याय के बृहत्तर हित में अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जा सके। वैसे ही कारण न्यायालय का मार्गदर्शन करने में उस समय लागू किए जाने चाहिए कि क्या अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं। न्यायालय इस बात पर पुनः जोर दे सकता कि लोक न्याय की अनिवार्यता से ही केवल सुसंगत कारण इस बात का अवधारण करने के लिए व्यवस्थित होते हैं कि क्या सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं। यह बात संभव नहीं हो सकती कि अनन्य रूप से परिभाषा दी जाए जिसे कि लोक न्याय की अनिवार्यता के भीतर माना जा सके, न यह ही संभव है कि लोक न्याय की धारणा को किसी बने बनाए सूत्र में रखा जा सके। अवश्य ही प्रत्येक मामला उसके विशेष तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर होना चाहिए क्योंकि असंख्य ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें कि इस न्यायालय द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। सर्वोपरि कारण अवश्य ही लोक न्याय की अपेक्षा होना चाहिए। (पैरा 32)

दो बहुत ही प्रबल और निश्चयात्मक ऐसे कारण हैं कि अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति अवश्य ही नहीं दी जाए। सबसे पहले तो विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट धारा 239 के अधीन इस बात पर विचार कर सकता था कि क्या उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री द्वितीय प्रत्यर्थी और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्टया मामला साबित करने के लिए पर्याप्त थी ताकि यदि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ऐसी सामग्री के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता कि उसके और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध लगाए गए आरोप निराधार थे तो उसके द्वारा लेखबद्ध किए गए कारणों के आधार पर वह उन्हें मुक्त करने के लिए बाध्य था। ऐसा कोई कारण नहीं है कि इन परिस्थितियों में लोक अभियोजक को धारा 321

के अधीन अभियोजन वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाए। ऐसा ही कार्य विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 239 के अधीन कार्यवाही करते हुए किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत मामले में अभियोजन वापस लेने के लिए विनिश्चय मंत्रिमंडल द्वारा किया गया था और इस बैठक की अध्यक्षता स्वयं द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा की गई थी। यह हो सकता है कि अव्यक्त (विवक्षित) रूप से मंत्रिमंडल के इस विनिश्चय का पालन न किया गया हो और इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया हो कि अभियोजन को वापस लिया जाना चाहिए अथवा नहीं, किंतु ऐसा होने पर भी इससे न्याय प्रशासन में लोगों का विश्वास बहुत कम हो जाता यदि उसके विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए विनिश्चय स्वयं अभियुक्त द्वारा किया जाता और इस विनिश्चय के अनुसरण में उस विशेष लोक अभियोजक द्वारा जिसको कि उस राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है जिसका कि अभियुक्त मुख्यमंत्री है, अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन किया जाता। यह एक प्राथमिक सिद्धांत है कि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु किया गया अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए। यह बात न्याय के सभी सिद्धांतों के लिए हानिकारक होगी कि अभियुक्त ही स्वयं के विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए विनिश्चय करे और इसके पश्चात् विशेष लोक अभियोजक, जिसको कि वस्तुत: उसी के द्वारा नियुक्त किया गया है, अभियोजन को वापस लेने के लिए आवेदन करे। (पैरा 33)

यह बात लोक न्याय के हित में समीचीन होगी कि उच्च पदासीन राजनीतिज्ञों को, जो किसी अपराध के अभियुक्त हों, न्यायिक पद्धति के बारे में तिकड़म करने के बजाय न्यायिक प्रक्रिया का सामना करके मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार वे राजनीतिक प्रक्रिया और साथ ही न्यायिक प्रक्रिया की वैधता को भी खतरे में डाल देते हैं। यह बात संभव है कि किसी विशेष मामले में तंग किया जाना अथवा असुविधा अभियोजन को वापस न लिए जाने का कारण हो सकती है, यदि अभियुक्त वास्तव में निर्दोष है और अंततोगत्वा उसे मुक्त करना पड़ेगा किंतु इस प्रकार तंग किए जाने अथवा असुविधा को अवश्य ही लोक जीवन के लिए अनिवार्य मूल्य माना जाना चाहिए जिसे कि लोक शक्ति को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को अदा करने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए क्योंकि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु किया गया अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए। (पैरा 34)

द्वितीय प्रत्यर्थी के सत्ता से हट जाने के पश्चात् अभियोजन पूर्ववती सरकार द्वारा प्रारंभ किया गया था, किंतु स्वयं उससे इस अनुमान को समर्थन नहीं मिलता कि अभियोजन का प्रारंभ किया जाना राजनीतिक वैमनस्य अथवा द्वेष-भावना द्वारा प्रेरित था क्योंकि यह बात बिल्कुल संभव है कि मुख्यमंत्री के विरुद्ध अभियोजन के प्रारंभ किए जाने को न्यायोचित ठहराए जाने के लिए अवश्य ही सामग्री होनी चाहिए थी और उत्तरवर्ती सरकार ने अवश्य ही विधिपूर्ण रूप से यह अनुभव किया हो कि अभियोजन के प्रारंभ किए जाने के लिए कोई मामला बनता है और इसीलिए अभियोजन को प्रारंभ किया गया था। उत्तरवर्ती सरकार से लिए ऐसा करना कोई गलत बात नहीं थी और अभियोजन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उस आधार पर वह दूषित हो गया था। (पैरा 17)

विधि की यह एक सुस्थापित प्रतिपादना है कि कोई आपराधिक अभियोजन यदि वह अन्यथा न्यायोचित है और पर्याप्त साक्ष्य पर आधारित है तो वह असद्भाव अथवा प्रथम

इत्तिला देने वाले या परिवादी के असद्भाव या राजनीतिक वैमनस्य के आधार पर दूषित नहीं हो जाएगा। यही सिद्धांत स्पष्ट रूप से उस स्थिति में लागू होना चाहिए जहां अभियुक्त के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने का किसी व्यक्ति द्वारा विरोध किया जाता है। राजनीतिक अभिप्रेरणा अथवा वैमनस्य वापस लिए जाने के लिए सम्मति देने को न्यायोचित नहीं बना सकता, यदि वह अन्यथा विधिपूर्ण तथा न्यायोचित है। (पैरा 16)

इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि किसी ऐसे अपराधी को अभियोजित करने का दायित्व, जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उसने कोई अपराध किया है; सबसे पहले कार्यपालिका का है। कार्यपालिका में ही आरोप पत्र फाइल करने की तथा अभियोजन को प्रारंभ करने की शक्ति निहित होती है। कार्यपालिका को यह शक्ति इस दृष्टिकोण से प्रदान की गई है कि वह समाज की रक्षा कर सके कि अपराधी अपराध करके समाज की शांति और प्रशांति भंग करते हैं। वास्तव ने इस बात का विनिश्चय करना न्यायालय का कार्य है कि आरोप-पत्र में दिए गए अपराध का संज्ञान किया जाए अथवा नहीं किंतु आरोप-पत्र फाइल करना तथा अभियोजन को प्रारंभ करना मात्र कार्यपालिका के उत्तरदायित्व के अधीन है। जब आरोप-पत्र फाइल करके अभियोजन प्रारंभ किया जाता है तभी लोक-अभियोजक का कार्य प्रारंभ होता है। वास्तव में आरोप-पत्र फाइल करने से पहले भी अन्वेषण करने वाले प्राधिकारी अभियुक्त के अभियोजन के बारे में लोक-अभियोजक की राय प्राप्त कर सकते हैं किंतु ऐसा करना अन्वेषण प्राधिकारियों पर बाध्यकारी नहीं है। लोक अभियोजक का कार्य तभी प्रारंभ होता है जबकि आरोप-पत्र फाइल कर दिया जाता है और वह अभियोजन की ओर से मामले के बारे में पेश होता है तथा बहस करता है। राज्य ही अन्वेषण प्रारंभ करता है और लोक अभियोजक राज्य की ओर से अभियोजन चलाने के लिए राज्य का आवश्यक रूप से परामर्शी होता है। इस प्रकार राज्य सरकार की ओर से नियुक्त किया गया लोक अभियोजक राज्य सरकार की ओर से अभियोजन का संचालन करता है और केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक वह कार्य केंद्रीय सरकार की ओर से करता है। निस्संदेह यह बात सच है कि लोक अभियोजक न्यायालय का एक अधिकारी होता है और वास्तव में वह उसी प्रकार होता है जैसे कि कोई अधिवक्ता न्यायालय में विधि व्यवसाय करता है और न्यायालय के प्रति उस पर यह बाध्यता होती है कि वह स्पष्ट तथा ईमानदार हो। उसे अभियोजन के मामले में किसी व्यक्तिगत हित को आड़े नहीं आने देना चाहिए और न ही उसे इस बात के लिए उत्सुक होना चाहिए कि हर कीमत पर दोषसिद्धि की जाए। उसे अभियोजन की ओर से उचित तथा वस्तुनिष्ठ रूप से मामले को प्रस्तुत करना चाहिए और वह अपने ऋजुतापूर्ण तथा सुविचारित दृष्टिकोण द्वारा न्यायालय की सहायता करने के लिए बाध्य होता है तथा अपने निर्णय को उचित रूप से प्रयोग करता है। किंतु साथ ही इस बात का ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि वह यथास्थिति केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार की ओर से अभियोजन का संचालन करता है और वह केंद्रीय सरकार अथवा उस राज्य सरकार की ओर से अधिवक्ता के रूप में कार्य कर रहा होता है जिसने कि अभियोजन प्रारंभ किया है। इसलिए इस बात में कोई त्रुटि नहीं होगी यदि सरकार अभियोजन वापस लेने का विनिश्चय करती है और लोक अभियोजक को इसी प्रकार का निदेश देती है। लोक अभियोजक को अन्य बातों के साथ-साथ उन आधारों पर विचार करना चाहिए जिनके कारण सरकार ने अभियोजन से वापस लेने का विनिश्चय किया

है और यदि वह इस बात से संतुष्ट है कि वे आधार वैध हैं तो वह अभियोजन वापस लेने के लिए आवेदन फाइल कर सकता है। ऐसे निदेश अथवा सलाह के अनुसरण में उसके द्वारा वापस लेने के लिए किया गया आवेदन आवश्यक रूप से निष्फल नहीं हो जाता। वास्तव में लोक अभियोजक इस विषय में अपना स्वतंत्र निर्णय ले सकता है कि अभियोजन को वापस ले लिया जाना चाहिए। यदि लोक अभियोजक अभियोजन से वापस लेने के लिए सरकार की अनुज्ञा प्राप्त करता है और सरकार उसे ऐसी अनुज्ञा प्रदान कर देती है और ऐसी अनुज्ञा के आधार पर वह वापस लेने के लिए आवेदन करता है तो उस आवेदन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निष्फल हो गया है। धारा 321 के परंतुक में वास्तव में कई प्रकार से यह अनुध्यात किया गया है कि अपराधों के कतिपय प्रवर्गों के बारे में ऐसा लोक अभियोजक जो कि राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है, केंद्रीय सरकार की अनुज्ञा के बिना अभियोजन वापस लेने के लिए न्यायालय से निवेदन नहीं कर सकता है। इस प्रक्रिया में निहित सरकार द्वारा शक्ति के दुरुपयोग अथवा गलत प्रयोग का कोई खतरा नहीं है क्योंकि सरकार के द्वारा शक्ति के ऐसे दुरुपयोग अथवा गलत प्रयोग के विरुद्ध दो मुख्य रक्षोपाय हैं—एक तो यह है कि आवेदन ऐसे आधारों पर किया जाना चाहिए जो कि लोक न्याय को बढ़ावा देने वाले हों और दूसरा यह है कि न्यायालय की सम्मति के बिना मामला वापस लिया जा सकता। (पैरा 27)

जब लोक अभियोजक के प्रति निर्देश किया जाता है तो इसमें सहायक लोक अभियोजक भी सम्मिलित है। लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने के लिए आवेदन करने हेतु निरंकुश अथवा असीमित शक्तियां नहीं दी गई हैं। यह बात स्पष्ट है कि अभियोजन को वापस लेने के लिए लोक अभियोजक को दी गई शक्ति अवश्य ही नियंत्रित और मार्गदर्शन करने वाली होनी चाहिए नहीं तो यह संविधान के अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगी। किसी अभियुक्त को अभियोजित करने अथवा न करने के लिए पुलिस को आत्यंतिक अथवा निरंकुश शक्ति प्राप्त नहीं है। वास्तव में संवैधानिक स्कीम में ऐसा आत्यंतिक अथवा असीमित विवेकाधिकार प्रदान किए जाने से संविधान के समता खंड का उल्लंघन होगा। इसलिए मजिस्ट्रेट को पुलिस के विवेकाधिकार के प्रयोग के तरीके और उसे नियंत्रित करने की शक्ति दी गई है। यदि मजिस्ट्रेट चाहे तो प्रारंभिक अन्वेषण अथवा मजिस्ट्रेट द्वारा निदेशित पुनः अन्वेषण किए जाने पर पुलिस द्वारा दी गई रिपोर्ट से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि किसी अपराध के बारे में यह प्रतीत होता है कि प्रथम दृष्टया वह किया गया है, तो मजिस्ट्रेट इस बात के होते हुए भी अपराध का संज्ञान कर सकता है कि पुलिस की राय उनसे भिन्न है और समान रूप से यदि मजिस्ट्रेट रिपोर्ट में दिए गए तथ्यों के आधार पर अपनी यह राय बनाता है कि प्रथम दृष्टया कोई अपराध नहीं किया गया है, यद्यपि पुलिस का निष्कर्ष उसके विरुद्ध है, तो भी मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान करने से इनकार कर सकता है। इस प्रकार अभियोजित करने के लिए पुलिस का विवेकाधिकार सीमित और नियंत्रित है और वह अपील अथवा पुनरीक्षण के अध्यधीन है और मजिस्ट्रेट इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए अंतिम निर्णयकर्ता बनाया गया है। विधानमंडल ने अपनी बुद्धिमता से यह दृष्टिकोण अपनाया है कि पुलिस को, जो कि सरकार का एक कार्यपालक अंग है, अभियोजित करने के लिए आत्यंतिक विवेकाधिकार न दिया जाए किंतु इसे राज्य के न्यायिक अंग के नियंत्रण के अध्यधीन रखा जाए। (पैरा 20)

अभियोजन वापस लेने की शक्ति का प्रयोग केवल न्यायालय की सम्मति से किया जा सकता है ताकि न्यायालय यह सुनिश्चित कर सके कि इस शक्ति का दुरुपयोग अथवा उसका गलत तरीके से प्रयोग नहीं किया गया है अथवा मनमाने या मनमौजी तरीके से प्रयोग नहीं किया गया है। जब एक बार आरोप-पत्र फाइल कर दिया जाता है और अभियोजन प्रारंभ कर दिया जाता है तो अभियोजन वापस लेने की बात राज्य अथवा लोक अभियोजक की मनमर्जी पर नहीं छोड़ दी जाती। न्यायालय को अभियोजन पर नियंत्रण करने की शक्ति सौंपी गई है। इसलिए लोक अभियोजक तब तक अभियोजन को वापस नहीं ले सकता जब तक कि वह न्यायालय, जिसके समक्ष अभियोजन लंबित है, इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए अपनी सम्मति नहीं दे देता। यह उपबंध इसलिए बनाया गया है कि यह बात सुनिश्चित कर ली जाए कि लोक अभियोजक की ओर से मनमानी बात नहीं की गई है और संविधान के समता खंड का पालन किया गया है। (पैरा 21)

लोक अभियोजक ऐसे विधिक कारणों के कुछ आधारों पर भी वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है जो लोक न्याय से संबद्ध अथवा सुसंगत हों। प्रशासनिक विधि का समूचा विकास राज्य और इसके अधिकारियों को प्रदान किए गए विवेकाधिकार को नियंत्रित तथा सुनिश्चित करने वाले विनिश्चयों की सतत श्रृंखला के द्वारा विशेषित है। विधि द्वारा सदैव ही राज्य के किसी परिकरण को प्रदान किए गए अन्यायपूर्ण और निरंकुश विवेकाधिकार को अस्वीकार किया गया है और प्रशासनिक विधि की यह विशेषता रही है कि ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग सुनियोजित और विनियमित न्यायिक विनिश्चयों के माध्यम से किया जाए। इसलिए उच्चतम न्यायालय ने, विभिन्न मामलों में व्यक्त की गई अलग-अलग राय के बावजूद भी, मुख्य सिद्धांत अधिकथित किया है और सतत रूप से उस पर आचरण किया है अर्थात् यह कि अभियोजन वापस लेने के लिए शक्ति का प्रयोग न्याय को बढ़ावा देने के लिए ही किया जा सकता है। (पैरा 22)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1981]	[1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982: **राजेन्द्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**;	26, 28, 31, 44, 47 और 98
[1980]	[1980] 4 उम० नि० प० 307=[1980] 2 एस० सी० आर० 14: **सुभाषचंद्र** बनाम **राज्य**;	21, 25, 28, 97

[1978] [1978] 4 उम० नि० प० 244=[1978] 1 एस० सी० आर० 604 :
बलवंत सिंह बनाम बिहार राज्य; 24, 25, 29, 31, 96

[1977] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335 :
उड़ीसा राज्य बनाम चंद्रिका महापात्र और अन्य; 22, 23, 28, 31, 95

[1972] [1972] 2 उम० नि० प० 37=[1972] 2 एस० सी० आर० 599=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 496 :
एम० एन० शंकरनारायणन् नायर बनाम पी० बी० बालकृष्णन्. 22, 23, 28, 32, 92 और 94

निर्दिष्ट निर्णय

[1987] ए० आई० आर० 1987 एस० सी० 863=[1987] 1 एस० सी० सी० 269 :
नंदिनी सत्पथी वाला मामला; 49 और 59

[1984] [1984] 2 एस० सी० सी० 500 :
ए० आर० अंतुले बनाम आर० एस० नायक; 14

[1983] [1983] 2 उम० नि० प० 897=[1983] 2 एस० सी० आर० 61 :
शिवनंदन पासवान बनाम बिहार राज्य; 38, 52, 67, 98 और 107

[1980] [1980] 4 उम० नि० प० 66=[1980] 1 एस० सी० आर० 1071 :
पंजाब राज्य बनाम गुरदयाल सिंह; 16

[1980] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1883 :
एच० एस० बैंस बनाम राज्य; 20

[1976] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 370 :
बंसी लाल बनाम चंदी लाल; 29, 94

[1968] [1968] 2 उम० नि० प० 1172=[1969] 1 एस० सी० आर० 387 :
कृष्ण बल्लभ सहाय और अन्य बनाम जांच आयोग; 17

[1957] [1957] एस० सी० आर० 279 :
बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडे; 23, 27, 32, 47, 92, 94 और 99

[1952] ए० आई० आर० 1952 राजस्थान 42 :
अमर नारायण माथुर बनाम राजस्थान राज्य और अन्य; 91

[1949] ए० आई० आर० 1949 पटना 233 :
किंग बनाम मौला बख्श और अन्य; 91

[1943] ए० आई० आर० 1943 सिंध 161 :
एम्परर बनाम शीतल दास; 91

[1938] ए० आई० आर० 1938 प्रिवी कौंसिल 266 :
बावा फकीर सिंह बनाम एम्परर; 91

[1936] ए० आई० आर० 1936 कलकत्ता 356 :
हरीहर सिन्हा बनाम एम्परर; 91

[1934] [1934] 295 यू० एस० 78 :
बरजर बनाम युनाइटेड स्टेट; 45

[1932] ए० आई० आर० 1932 कलकत्ता 699 :
गिरीबाला दासी बनाम मदर गाजी. 91

दांडिक अपीली अधिकारिता : 1982 की दांडिक अपील सं० 240.

1981 का दांडिक पुनरीक्षण सं० 874 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 14-9-1981 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री डॉ० एल० एम० सिंघवी, एस० के० सिन्हा, एम० के० वर्मा, ए० एम० सिंघवी, एस० सिंह, सी० मुखोपाध्याय और आर० त्यागी

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री वाई० एस० चिताले, एफ० एस० नारीमन, एस० एन० कक्कड़, राजेन्द्र सिंह, डी० गोबर्धन, डी० चंद्रचूड़, एल० आर० सिंह, गोपाल सिंह, एम० पी० झा०, आर० के० जैन, रंजीत कुमार और बी० पी० सिंह

मुख्य न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती (अपनी तथा न्यायमूर्ति ओझा की ओर से, अल्पमत निर्णय) : इस मामले का इतिहास बहुविध है और यह आवश्यक है कि इस मामले में हमारे समक्ष अवधारण के लिए उत्पन्न प्रश्न को समझने के लिए तथ्यों का कथन विस्तारपूर्वक किया जाए। इस नाटक में मुख्य नायक डॉ० जगन्नाथ मिश्र हैं जो किसी समय बिहार के मुख्यमंत्री थे। वह मुख्य संविवाद जिससे सभी प्रश्न सम्बद्ध हैं, यह है कि क्या डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध उस समय प्रारंभ किया गया अभियोजन जबकि वह सत्ता में नहीं थे; मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा ठीक ही वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञात किया गया था अथवा क्या इस प्रकार वापस लिया जाना अविधिमान्य था और उसे इसलिए अपास्त किया जाना चाहिए ताकि डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन जारी रखा जा सके।

2. तथ्यों की वह स्थिति जिनसे यह मामला उद्भूत होता है, एक सहकारी बैंक, जिसका नाम पटना सहकारी बैंक (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सहकारी बैंक" कहा गया है), के कामकाज से संबंधित है। यह सहकारी बैंक 1970 में रजिस्ट्रीकृत किया गया था और इसने जब अपना बैंकिंग कारबार प्रारंभ किया तो नवल किशोर सिन्हा इसके अध्यक्ष, के० पी० गुप्त अवैतनिक सचिव, एम० ए० हैदरी प्रबंधक तथा ए० के० सिंह, ऋण-लिपिक थे। इस बात पर गंभीरतापूर्वक विवाद नहीं किया गया है कि सहकारी बैंक के अधिकांश सदस्य नवल किशोर सिन्हा से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे। इस सहकारी बैंक का उद्देश्य लोगों को लघु उद्योग तथा कारबार स्थापित करने के लिए वित्तीय सहायता देना था और साधारण परिस्थितियों में लोगों को उनके व्यवसाय तथा कारबार को चलाने के लिए सहायता करना था। एक उपसमिति का गठन किया गया था जिसका नाम ऋण उपसमिति था। इसमें नवल किशोर सिन्हा, के० पी० गुप्त और एक अधिवक्ता पूर्नेंदु नारायण थे। उनका कार्य ऋण मंजूर करना तथा देना था अर्थात् नवल किशोर सिन्हा उपविधियों के अनुसार सहकारी बैंक के सभी कृत्यों के संबंध में विनिश्चय करने वाले अंतिम प्राधिकारी थे तथा अवैतनिक सचिव अर्थात् के० पी० गुप्त का कार्य अध्यक्ष के साथ सहकारी बैंक की समस्त गतिविधियों पर पर्यवेक्षक के रूप में नियंत्रण रखना था। प्रबंधक अर्थात् एम० ए० हैदरी इसके दिन प्रतिदिन के कार्य से संबद्ध था। डा० जगन्नाथ मिश्र जो उस समय विधान परिषद् का सदस्य था, नवल किशोर सिन्हा से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था और उसने सहकारी बैंक तथा नवल किशोर सिन्हा की सहकारी बैंक के कामकाज के संबंध में अन्य तरीकों से सहायता की थी तथा सहकारी बैंक के लिए स्रोतों के जुटाने में भी सहायता की थी। किसी समय 1974 में सहकारी बैंक के कार्य के संबंध में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा तथा बिहार राज्य के सहकारिता विभाग द्वारा भी वर्ष 1972-73

तथा 1973-74 के लिए अलग से लेखा-परीक्षा कराई गई थी और इन लेखा परीक्षाओं के परिणामस्वरूप अनेक अनियमिततायें जानकारी में आई थीं। जैसा कि रोकड़ बहियों का उचित रूप से न रखा जाना तथा ओवर ड्राफ्ट सुविधायें बिना चालू खाते के दी जानी और उसी प्रकार से सहकारी बैंक की निधियों के संबंध में अवैध परिपाटी तथा निधियों का गबन तथा अपव्यवहार किया जाना। लेखा-परीक्षा रिपोर्टों से यह पता चला कि बहुत बड़ी रकम जो लाखों रुपए की थी, अपव्यय करके उड़ा दी गयी है, जो सदस्य नहीं थे उन्हें ऋण दिया गया। यहां तक कि बिना आवेदन-पत्रों के करारों अथवा वचन-पत्रों के बिना ऋण दिया गया, बिना आडमान अथवा प्रतिभूति के ऋण दिया गया, आडमानित माल के विक्रय आगमों से रुपए वसूल किए जाने के स्थान पर थोड़े समय के लिए ऋण दिया जाना, एक ही व्यक्ति को भिन्न नामों से ऋण दिया जाना तथा काल्पनिक व्यक्तियों और ऐसी फर्मों अथवा उद्योगों को ऋण दिया जाना जो अस्तित्व में ही नहीं थीं। ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि गांधी मैदान अथवा पटना रेलवे स्टेशन की प्रतिभूति के आधार पर ऋण स्वीकार किए गए थे। रिजर्व बैंक की लेखा-परीक्षा पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुंची कि नवलकिशोर सिन्हा तथा कुछ अन्य व्यक्ति लगभग 12 लाख रुपए के डूबंत ऋण के दुर्विनियोग तथा लगभग 25 लाख रुपए की निधि के दुर्विनियोग तथा गबन के लिए उत्तरदायी थे।

3. इन लेखा परीक्षा रिपोर्टों के आधार पर सहकारी सोसाइटी के रजिस्ट्रार ने रिजर्व बैंक के कहने पर 10 जुलाई, 1974 को एक आदेश किया जिसके द्वारा सहकारी बैंक के प्रबंधमंडल को अतिष्ठित किया गया, नवलकिशोर सिन्हा तथा बोर्ड के अन्य निदेशकों को अध्यक्ष के तथा निदेशकों के रूप में उनके कार्यालय से हटा दिया गया तथा सहकारिता विभाग के एक अधिकारी को सहकारी बैंक के कामकाज की देखभाल करने के लिए नियुक्त किया गया। सहकारी सोसाइटी के रजिस्ट्रार ने तारीख 4 नवंबर, 1974 को एक नोट सहकारिता सचिव को प्रस्तुत किया जिसमें यह इंगित किया गया था कि लेखा रिपोर्टों के अनुसार निधियों के गबन और दुरुपयोग के लिए सहकारी बैंक के अधिकारियों के विरुद्ध प्रथमदृष्टया आरोप साबित हो गए थे तथा लोक अभियोजक की राय प्राप्त करने के पश्चात् उनके विरुद्ध विधिक कार्यवाही की जानी चाहिए। सहकारिता सचिव ने तारीख 7 नवंबर, 1974 के अपने नोट द्वारा विधि विभाग की इस संबंध में कार्यवाही करने के विषय में राय प्राप्त की, जैसा कि सहकारी-सोसाइटियों के रजिस्ट्रार के टिप्पण में कहा गया है। विधि-विभाग ने अपनी राय सुसंगत फाइल में 18 नवंबर, 1974 को अभिलिखित की कि ऋण लेने वालों तथा सहकारी बैंक के पदाधिकारियों के विरुद्ध षड़यंत्र तथा आपराधिक न्यासभंग का प्रथम-दृष्टया मामला साबित हो गया है। इस राय के आधार पर 16 दिसंबर, 1974 को पटना के सहायक लोक अभियोजक द्वारा "परिवाद का प्रारूप पटना के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में फाइल करने के लिए तैयार किया गया था और उसी दिन यह सुझाव देते हुए एक कार्यालय टिप्पण तैयार किया गया था कि परिवाद के प्रारूप के बारे में विधि विभाग की सलाह प्राप्त की जाए। इस कार्य को सहकारिता सचिव के द्वारा अनुमोदित किया गया था तथा सहकारिता मंत्री द्वारा भी एक जनवरी, 1975 को इसका अनुमोदन कर दिया गया था तथा 2 जनवरी, 1975 को तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अब्दुल गफूर का अनुमोदन भी इसे प्राप्त हो गया था। तत्पश्चात् फाइल विधि विभाग वापस भेज दी गई थी तथा विधि विभाग ने उन्हें पहले दी गई सलाह को दोहराया कि अभियोजन

प्रारंभ किया जाए तथा फाइल 17 जनवरी, 1975 को वापस मिल जाने के पश्चात् सहकारिता सचिव ने 21 जनवरी, 1975 को अपर लोक अभियोजक श्री गिरीश नारायण सिन्हा को फाइल आवश्यक कार्यवाही के लिए अर्थात् अभियोजन फाइल करने के लिए भेज दी। इस प्रकार 21 जनवरी, 1975 तक अध्यक्ष नवलकिशोर सिन्हा सहित ऋण लेने वालों तथा सहकारी बैंक के निदेशक बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन प्रारंभ करने के लिए निश्चित रूप से विनिश्चय कर लिया गया था और उस हेतु एक परिवाद विधि विभाग द्वारा अनुमोदित कर दिया गया था तथा पटना के जिला सहकारिता अधिकारी श्री जगदीश नारायण वर्मा ने 25 जनवरी, 1975 को हस्ताक्षर कर दिए थे और वह अपर लोक अभियोजक के पास मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में फाइल करने के लिए तैयार था। किंतु अपर लोक अभियोजक के परिवाद फाइल करने से पूर्व ही डा० जगन्नाथ मिश्र ने, जो कि उस समय कृषि और सिंचाई का भारसाधक मंत्री था, तारीख 24 जनवरी, 1975 को सहकारिता सचिव को यह उल्लेख करते हुए कि वह संबद्ध फाइल को लेखा-परीक्षा रिपोर्ट के साथ आपराधिक मामला प्रारंभ करने से पूर्व ही उनके पास भेज दे, एक टिप्पण लिखा। इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि बिहार राज्य के कामकाज संबंधी कार्यपालक नियमों के नियम 5 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 166(3) के अधीन जारी की गई तारीख 30 अप्रैल, 1974 की अधिसूचना के अधीन तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अब्दुल गफूर अन्य बातों के साथ-साथ विधि विभाग का कार्य भी देख रहे थे किंतु इस न्यायालय में प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से फाइल किए गए तारीख 19 अक्तूबर, 1982 के श्री नीलानंद सिंह के शपथपत्र के अनुसार श्री अब्दुल गफूर ने अपने ऊपर कार्यभार की मात्रा को कम करने की दृष्टि से श्री जगन्नाथ मिश्र से यह निवेदन किया था कि वे विधि विभाग का कार्य स्वयं देख लें। चूंकि डा० जगन्नाथ मिश्र ने संबद्ध फाइल मंगवाई थी इसलिए श्री अब्दुल गफूर ने उन्हें किए गए एक निर्देश में तारीख 27-1-1975 को यह निदेशित किया कि वह फाइल डा० जगन्नाथ मिश्र के पास भेज दी जाए। तद्नुसार सहकारिता सचिव ने तारीख 28-1-1975 को अपर लोक अभियोजक से परिवाद तथा अन्य कागज-पत्र वापस मंगवा लिए। उसके पश्चात् फाइल सहकारिता मंत्री श्री आर० के० श्रीवास्तव के समक्ष प्रस्तुत की गई थी और उसने आपराधिक षड्यंत्र, आपराधिक न्यास-भंग और लोक निधि के दुर्विनियोग के उन बहुत से दृष्टातों का उल्लेख करते हुए जो सहकारी बैंक के निदेशकों के विरुद्ध जानकारी में आए थे, 31 जनवरी, 1975 को फाइल पर एक पृष्ठांकन किया और फाइल मुख्यमंत्री के माध्यम से डा० जगन्नाथ मिश्र के पास भेज दी क्योंकि परिवाद के वास्तव में दाखिल किए जाने के पूर्व वे फाइल का अवलोकन करना चाहते थे। अभिलेख से यह मालूम नहीं होता है कि फाइल कब डा० जगन्नाथ मिश्र के पास भेजी गई थी किंतु हर हालत में तारीख 24 फरवरी, 1975 को फाइल डा० जगन्नाथ मिश्र के पास थी। डा० जगन्नाथ मिश्र के पास फाइल लगभग ढाई मास से कुछ अधिक समय तक रही और उस पर उनके द्वारा मई, 1975 के मध्य तक कोई भी पृठांकन नहीं किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि नवलकिशोर सिन्हा और अन्य निदेशकों के विरुद्ध अभियोजन फाइल नहीं किया जा सका। इसी दौरान 11 अप्रैल, 1975 को श्री अब्दुल गफूर को हटा दिया गया था और इनके स्थान पर डा० जगन्नाथ मिश्र मुख्यमंत्री बने। डा० जगन्नाथ मिश्र ने, नवलकिशोर सिन्हा और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध की जाने वाली कार्रवाई के संबंध में तारीख 16 मई, 1975 को फाइल में स्वयं अपने हाथ से

हिन्दी में लिखकर एक आदेश किया और उस आदेश के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपांतर निम्न प्रकार है—

> "बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया। फाइल का परिशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यक्ष तथा बैंक के बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं है। ऋणियों से ऋण वसूल करने के लिए सख्त कार्रवाई की जानी चाहिए और यदि ऋणियों से ऋण वसूल करने में कठिनाइयां हों तो निदेशक बोर्ड के विरुद्ध अधिभार कार्यवाही प्रारंभ की जानी चाहिए। वार्षिक साधारण सभा बुलाने और निर्वाचन कराए जाने के बाद बैंक में सामान्य स्थिति पुनः स्थापित की जाए।"

4. इस आदेश के समक्ष पार्श्व में लगी मोहर से, जो ऐसे प्रेषित किए जाने के हेतु प्रविष्टि सहित थी, मूल रूप से वह तारीख जिसको कि फाइल डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा आदेश दिए जाने के पश्चात् मुख्यमंत्री के सचिवालय से सहकारी बैंक को प्रेषित की गई थी, 16 मई, 1975 दर्शित की गई थी। आदेश के प्रथम भाग से यह स्पष्ट है कि डा० जगन्नाथ मिश्र नवलकिशोर सिन्हा और सहकारी बैंक के बोर्ड के अन्य सदस्यों के विरुद्ध कोई आपराधिक अभियोजन चलाना नहीं चाहते थे और इसीलिए उसने यह मत व्यक्त किया कि अध्यक्ष और बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध गबन का कोई आरोप नहीं था, यद्यपि यह बात सही नहीं थी। यह मत व्यक्त करने का उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह था कि नवलकिशोर सिन्हा और बोर्ड के अन्य सदस्यों के विरुद्ध कोई अपराधिक अभियोजन फाइल किए जाने को पहले ही अपने अधिकार में कर लिया जाए। आदेश के द्वितीय भाग में यह उपबंधित था कि यदि ऋणियों से ऋण वसूल करने में कोई कठिनाई हो तो अध्यक्ष और बोर्ड के अन्य सदस्यों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियां प्रारंभ की जाएं और चूंकि सहकारी बैंक द्वारा दिए गए अधिकांश ऋण काल्पनिक नामों से दिए गए थे और किसी भी हालत में उन्हें वसूल करना असंभव था, अतः यह बात स्पष्ट थी कि आदेश के इस भाग के आधार पर अध्यक्ष और सहकारी बैंक के अन्य निदेशकों के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियां की जानी थीं। अब, प्रेषित किए जाने हेतु प्रविष्टि के अनुसार, जैसी कि वह मूल रूप में की गई थी, वह फाइल, जिसमें यह आदेश किया गया था, अवश्य ही तारीख 16 मई, 1975 को डा० जगन्नाथ मिश्र के कार्यालय से भेज दी गई थी, यद्यपि डा० जगन्नाथ मिश्र का यह कहना है कि वह फाइल उसके कार्यालय से कभी भी नहीं भेजी गई थी। यदि फाइल डा० जगन्नाथ मिश्र के कार्यालय तारीख 16 मई, 1975 को भेज दी गई थी तो अभिलेख से यह प्रकट नहीं होता कि फाइल को कब वापस भेजा गया था क्योंकि डा० जगन्नाथ मिश्र के सचिवालय द्वारा फाइल को वापस प्राप्त किए जाने को दर्शित करने के लिए फाइल पर कोई पृष्ठांकन या मोहर नहीं लगाई है। किंतु भले ही फाइल डा० जगन्नाथ मिश्र के कार्यालय में रही हो जैसा कि उसके द्वारा दावा किया गया है या फिर तारीख 16 मई, 1975 को उसे कार्यालय वापस भेज दिया गया था और तत्पश्चात् कार्यालय में उसे वापस भेज दिया गया था, यह बात निर्विवाद है कि डा० जगन्नाथ मिश्र ने अपने हस्ताक्षर करके एक अलग कागज पर हिन्दी में स्वयं अपने हाथ से लिखकर एक अन्य आदेश पारित किया था और उसे पहले से किए गए तारीख 16 मई, 1975 के आदेश के ऊपर इस प्रकार चिपका दिया था जिससे कि वह पूर्ण रूप से मिट जाए और इस पश्चात्वर्ती

आदेश पर पिछली तारीख 14 मई, 1975 डाली गई थी। प्रेषित किए जाने हेतु प्रविष्टि में प्रेषित किए जाने की तारीख अर्थात् 16 मई, 1975, जो पार्श्व में लिखी गई थी, को भी दोबारा लिखकर परिवर्तित करके तारीख 14 मई, 1975 कर दिया गया था। सहकारिता मंत्री को लिखे गए इस द्वितीय आदेश के अंग्रेजी अनुवाद (का हिन्दी रूपांतर) निम्न प्रकार है—

> "कृपया वार्षिक साधारण बैठक बुलाए जाने के पश्चात् बैंक में सामान्य स्थिति पुन: स्थापित करने के लिए आदेश जारी करें।"
>
> हस्ताक्षर—
> (डा० जगन्नाथ मिश्र) मई 14, 1975.

डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से दिया गया स्पष्टीकरण यह था कि मुख्य मुख्यमंत्री के रूप में उसे यह अधिकार और शक्ति प्राप्त थी कि वह अपने पूर्ववर्ती आदेश का पुनरीक्षण या पुनर्विलोकन कर सके और पटना सचिवालय में यह परिपाटी सामान्य रूप से प्रचलित है कि जब कभी पहले से पारित किए गए किसी आदेश का उसी अधिकारी या मंत्री द्वारा पुनरीक्षण या पुनर्विलोकन ईप्सित हो तो उसके ऊपर पुनरीक्षित आदेश लिखा अलग कागज चिपका कर ऐसा किया जाता है। किंतु यह स्पष्टीकरण दिए जाने के साथ-साथ जिस स्थिति को स्वीकार किया गया है, वह यह है कि फाइल में अपने स्वयं के हस्तलेख में डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा जो प्रथम आदेश तारीख 16 मई, 1975 को किया गया था, उसे उस द्वितीय आदेश द्वारा मिटाया गया था जो उसने तारीख 16 मई, 1975 के पश्चात् किया था किंतु उस पर तारीख 14 मई, 1975 डाली गई थी और प्रेषित किए जाने हेतु प्रविष्टि में लिखी तारीख 16 मई, 1975 को भी दोबारा लिखकर तारीख 14 मई, 1975 कर दिया गया था। डा० जगन्नाथ मिश्र के द्वारा किए गए इस कार्य का परिणाम यह हुआ कि ऋणियों से ऋण वसूल करने में हुए व्यतिक्रम के बारे में अध्यक्ष और निदेशक बोर्ड के विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियां करने हेतु दिए गए निदेश को भी समाप्त कर दिया गया और एकमात्र निदेश यह रह गया था कि वार्षिक साधारण बैठक बुलाए जाने और निर्वाचन कराए जाने के पश्चात् सहकारी बैंक में सामान्य स्थिति पुन: स्थापित की जानी चाहिए। इस प्रकार डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा अध्यक्ष और निदेशक बोर्ड के सदस्यों के विरुद्ध अभियोजन फाइल करने का न केवल अनुमोदन नहीं किया गया था बल्कि उनके विरुद्ध अधिभार कार्यवाहियां किए जाने का भी निदेश नहीं दिया गया था। इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि डा० जगन्नाथ मिश्र को मुख्यमंत्री के रूप में तारीख 16 मई, 1975 के पूर्ववर्ती आदेश को पुनरीक्षित करने का प्राधिकार और शक्ति प्राप्त थी और वह ऐसा आसानी से कर सकता था किंतु ऐसा करने के बजाय उसने द्वितीय आदेश की तारीख बदल कर 14 मई, 1975 कर दी थी और उसे तारीख 16 मई, 1975 के पूर्ववर्ती आदेश के ऊपर इस प्रकार चिपका दिया था कि वह पूर्ण रूप से मिट जाए और प्रेषित करने हेतु प्रविष्टि की तारीख भी बदल कर 14 मई, 1975 कर दी गई थी। दलील यह दी गई थी कि डा० जगन्नाथ मिश्र ने ऐसा जानबूझकर कपटपूर्ण आशय से किया था ताकि तारीख 16 मई, 1975 के पूर्ववर्ती आदेश के प्रभाव को समाप्त किया जा सके और अधिभार कार्यवाहियों के प्रारंभ किए जाने से उत्पन्न सिविल दायित्व से नवलकिशोर सिन्हा को बचाया जा सके। इस दलील का डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से विरोध किया

गया था और यह कहा गया था कि पटना सचिवालय की परिपाटी के अनुसार यह एक दोषरहित कार्य था और तारीख को बदला जाना असद्भाविक नहीं था बल्कि यह सद्भावपूर्ण गलती का सहज परिणाम था। यह एक ऐसा विषय है जिस पर न्यायालय को तब विचार करना था यदि अभियोजन के वापस लिए जाने को अपास्त किया जाता है और डा० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन को चालू रखने के लिए निदेश दिया जाता।

5. जहां तक नवलकिशोर सिन्हा तथा निदेशक बोर्ड के अन्य सदस्यों के विरुद्ध अभियोजन फाइल करने का संबंध है, ऐसा प्रतीत होता है कि सहकारिता विभाग इस विषय में आगे कार्यवाही करना चाहता था और तदनुसार सहकारी मंत्री ने तारीख 28 जून, 1975 का टिप्पण प्रस्तुत किया तथा डा० जगन्नाथ मिश्र से इस विषय में निदेश प्राप्त करना चाहा कि परिवाद फाइल करने के बारे में आगे क्या कार्रवाई की जानी चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में डा० जगन्नाथ मिश्र ने 30 जून, 1975 को फाइल पर निम्नलिखित आदेश पारित किया—"चर्चा कर ली गई है। अभियोजन फाइल करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" इससे स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि डा० जगन्नाथ मिश्र, नवलकिशोर सिन्हा तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन फाइल करना नहीं चाहते थे और इस प्रकार के आपराधिक अभियोजन से नवलकिशोर सिन्हा की रक्षा करना चाहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जुलाई, 1975 में बिहार विधान सभा में प्रश्न किए गए तथा ध्यानाकर्षण प्रस्ताव रखा गया और कार्रवाइयों के दौरान नवलकिशोर सिन्हा तथा अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों के विरुद्ध सहकारी बैंक के क्रियाकलापों से सम्बद्ध उनके विरुद्ध अभियोजन फाइल न करने के बारे में विधि विभाग की सलाह के बावजूद चर्चा की गई थी तथा अध्यक्ष ने इस मामले को सदन की प्राक्कलन समिति को निर्देशित कर दिया। इससे अगली घटना जो इस कालानुक्रम में घटित हुई, यह थी कि सहकारी बैंक की वार्षिक साधारण सभा बुलाई गई थी और नवलकिशोर सिन्हा के सहयोगी नवंबर, 1975 में निर्वाचित हो गए थे। सहकारी बैंक के प्रबंधमंडल का कार्य निर्वाचित निदेशकों को सौंप दिया गया था किंतु 15 अप्रैल, 1976 को भारतीय रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंक की बैंक अनुज्ञप्ति को रद्द कर दिया था तथा 19 अप्रैल, 1976 को सहकारी बैंक के समापन का आदेश दे दिया था और भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक अधिकारी टी० नन्द कुमार को सहकारी बैंक का समापक नियुक्त किया गया था।

6. प्राक्कलन समिति ने, जिसको इस विषय में अध्यक्ष द्वारा निर्देश किया गया था, अपनी रिपोर्ट जून, 1976 में प्रस्तुत कर दी थी और उसमें यह सिफारिश की गई थी कि नवलकिशोर सिन्हा तथा अन्य व्यक्तियों का अभियोजन किया जाए और इसका परिणाम यह हुआ कि जुलाई, 1976 में बिहार विधानसभा में इस विषय में बहस की गई थी जिसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि सरकार दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन चलाने के लिए सहमति देने के लिए बाध्य कर दी गई। डा० जगन्नाथ मिश्र ने तदनुसार 4 अगस्त, 1976 को एक आदेश पारित किया जिसमें यह निदेश दिया गया कि उन व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन प्रारंभ किया जाए जो कि सहकारी बैंक के अधम कार्यों में लिप्त थे किंतु इस पर भी उसने यह निदेश दिया कि आर० पी० गुप्ता, एम० ए० हैदरी और ए० के० सिंह सहित कुछ पदाधिकारियों तथा ऋणियों के विरुद्ध अभियोजन प्रारंभ किया जाए किंतु नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध नहीं। इस प्रकार पदाधिकारियों तथा ऋणी व्यक्तियों के विरुद्ध 23 आपराधिक मामले फाइल किए गए थे किंतु इन मामलों में नवलकिशोर सिन्हा को

अभियुक्त के रूप में दोषारोपित करने से अलग रखा गया था । डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा किए गए इस आदेश में स्पष्ट रूप से यह संकेत था कि नवलकिशोर सिन्हा तथा अन्य व्यक्तियों के बारे में अभियोजन प्रारंभ न करने के संबंध में जो हंगामा हुआ था, इसके बावजूद डा० जगन्नाथ मिश्र ने जोर देकर यह प्रयास किया कि नवलकिशोर सिन्हा को अभियोजन से बचाया जाए । सहकारी बैंक के समापक टी० नन्द कुमार ने तथापि सहकारिता समिति के रजिस्ट्रार को एक पत्र प्रेषित किया जिसमें यह सुझाव दिया कि अन्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध भी गबन, कूटरचना और कपट आदि के अपराधों के लिए अभियोजन चलाया जाना चाहिए किंतु इस मामले को पुलिस अधीक्षक (सहकारी सतर्कता प्रकोष्ठ) की रिपोर्ट के लिए लंबित रखा गया था। पुलिस अधीक्षक (सहकारी सतर्कता प्रकोष्ठ) ने आवश्यक साक्ष्य एकत्र करने के पश्चात् उनकी जांच विधि विभाग के उपसचिव द्वारा कराई और विधि विभाग द्वारा दी गई इस सलाह के आधार पर कि आपराधिक मामला पूर्ण रूप से नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध बनता है, उसने 8 अक्तूबर, 1976 को फाइल पर यह सुझाव दिया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के प्रारूप के अनुसार नए सिरे से आपराधिक मामला नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध फाइल किया जाना चाहिए और उसे भी पहले से संस्थित किए गए मामले में सह-अभियुक्त बनाया जाना चाहिए। इस प्रस्थापना को उप महानिरीक्षक (सी० आई० डी०) द्वारा अनुमोदित कर दिया गया था और इसे मुख्यमंत्री अर्थात् डा० जगन्नाथ मिश्र का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए सहकारिता विभाग के आयुक्त के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। डा० जगन्नाथ मिश्र ने पहले ही यह आदेश किया था कि कुछ पदाधिकारियों तथा ऋण लेने वालों के विरुद्ध आपराधिक मामले फाइल करने के विषय में आदेश पारित किया था और अभियोजन से नवलकिशोर सिन्हा को मुक्त रखा गया था । पुलिस अधीक्षक ने, जो कि सहकारिता सतर्कता प्रकोष्ठ के प्रभारी थे, अपने टिप्पण में स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के प्रारूप की सतर्कता (सी० आई० डी०) के उपसचिव द्वारा तथा पुलिस महानिरीक्षक के द्वारा भी विधीक्षा की गई थी। सतर्कता विभाग के आयुक्त ने समस्त सामग्री की सावधानीपूर्वक परीक्षा करने के पश्चात् और कुछ मुद्दों पर स्पष्टीकरण प्राप्त करने के पश्चात् तारीख 15 जनवरी, 1977 को एक विस्तृत टिप्पण सहकारिता मंत्री को प्रस्तुत किया जिसमें उसने विशेष रूप से प्रस्थापना की कि पुलिस अधीक्षक (सहकारिता सतर्कता प्रकोष्ठ) नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दाखिल करने के लिए उसके अनुमोदनार्थ प्रस्तुत की और यह भी सुझाव दिया कि माननीय मंत्री मुख्यमंत्री का अनुमोदन प्राप्त कर लें। सहकारिता मंत्री ने तारीख 20 जनवरी, 1977 को मुख्यमंत्री के अनुमोदन के लिए फाइल भेज दी। फाइल मुख्यमंत्री के सचिवालय में 30 मार्च, 1977 को प्राप्त हुई और डा० जगन्नाथ मिश्र ने मुख्यमंत्री के रूप में स्पष्ट रूप से और विशेष रूप से उसका अनुमोदन करने के बजाए अथवा किसी रूप में अपने विचार व्यक्त करने के बजाए मात्र फाइल पुलिस महानिरीक्षक को 9 अप्रैल, 1977 को भेज दी। यह समझना कठिन है कि डा० जगन्नाथ मिश्र ने यह पृष्ठांकन क्यों किया क्योंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के प्रारूप की पहले ही पुलिस महानिरीक्षक द्वारा विधीक्षा कर दी गई थी। और इसमें कोई ऐसा मुद्दा नहीं था कि मामले को वापस पुलिस महानिरीक्षक के पास भेजा जाता। यदि डा० जगन्नाथ मिश्र मात्र इस कार्रवाई का अनुमोदन कर रहे थे जो की जाने

1986(12) eILR(PAT) SC 41

वाली थी, या तो उसे अनुमोदनार्थ पृष्ठांकन कर देना चाहिए था या उस पर अपने हस्ताक्षर या आद्याक्षर बिना कुछ आगे कह कर देने चाहिए थे किंतु इसके बजाए उसने फाइल पुलिस महानिरीक्षक के पास भेज दी। अपीलार्थी की ओर से दी गई इस दलील में पर्याप्त बल है कि पृष्ठांकन किए जाने का उद्देश्य मात्र यह था कि मामले को समाप्त कर दिया जाए। तथापि उसके शीघ्र पश्चात्, 30 अप्रैल, 1977 को डा० जगन्नाथ की सरकार सत्ताविहीन हो गई थी और बिहार राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था। उसके पश्चात् नवलकिशोर सिन्हा के अभियोजन के बारे में फाइल राष्ट्रपति शासन के अधीन सलाहकार (सहकारिता) के पास भेज दी गई थी और उसने 15 मई, 1977 को प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया था और तत्कालीन राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशल ने 16 मई, 1977 को उस प्रस्ताव को अपना अनुमोदन दे दिया था जिसके परिणामस्वरूप अंततोगत्वा 30 मई, 1977 को नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध आपराधिक मामला फाइल कर दिया गया था। तथ्यों के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० जगन्नाथ मिश्र ने जब कि वह सत्ता में था, इस बात के लिए भरसक प्रयत्न किया कि नवलकिशोर सिन्हा की किसी भी प्रकार के आपराधिक अभियोजन से रक्षा की जाए बावजूद इस बात के कि आपराधिक अभियोजन के फाइल किए जाने के बारे में भारतीय रिजर्व बैंक और सहकारिता विभाग द्वारा सलाह दी गई थी, अन्वेषण करने वाले प्राधिकारियों द्वारा इसे प्रस्तावित किया गया था, प्राक्कलन समिति द्वारा सिफारिश की गई थी और विधि विभाग ने पूर्ण रूप से इसका समर्थन किया था। किंतु अंततोगत्वा डा० जगन्नाथ मिश्र के सत्ताविहीन हो जाने के पश्चात् नवलकिशोर सिन्हा के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन प्रारंभ कर दिया गया था।

7. मई, 1977 में किसी समय राज्य विधान मंडल के नए चुनाव होने के पश्चात् बिहार राज्य में एक नई सरकार सत्ता में आई और श्री कर्पूरी ठाकुर के कहने से जो कि नई सरकार में मुख्यमंत्री बना, एक जांच के लिए सहकारिता बैंक के कार्यकलाप के विषय में अनियमितताओं के संबंध में आरोपों के बारे में निदेश दिया गया था। जांच का कार्य तत्कालीन सचिव श्री डी० एन० सहाय को सौंपा गया था। इसी दौरान राज्य सरकार द्वारा एक जांच आयोग पहले से ही संस्थित किया गया था और इसीलिए श्री डी० एन० सहाय ने तारीख 1 सितंबर, 1977 को एक पत्र सहकारी बैंक के कामकाज के संबंध में कार्यभार के बारे में विशेष सचिव को लिखा और उसने यह इंगित किया कि चूंकि एक जांच आयोग पहले से ही संस्थित किया जा चुका था अतः यह उचित नहीं होगा कि सतर्कता जांच को आगे बढ़ाया जाए। तथापि श्री कर्पूरी ठाकुर ने यह निदेश दिया कि सतर्कता जांच जारी रखी जा सकती है क्योंकि सतर्कता जांच के परिणामस्वरूप एकत्रित की गई सामग्री को जांच आयोग द्वारा काम में लाया जा सकता है। तत्पश्चात् सतर्कता आयोग का कार्य श्री डी० पी० ओझा को सौंपा गया था जिन्हें श्री कर्पूरी ठाकुर द्वारा पुलिस अधीक्षक सतर्कता के रूप में तैनात किया गया था और सहकारी बैंक के कामकाज के संबंध में सभी मामलों को सतर्कता विभाग को अंतरित कर दिया गया था। एम० ए० हैदरी को जो कि पहले से संस्थित किए गए मामलों में एक अभियुक्त था, उन मामलों के संबंध में पुनः गिरफ्तार कर लिया गया था और सतर्कता विभाग द्वारा प्रारंभ किए गए नए पुनरीक्षण के दौरान एम० ए० हैदरी ने एक द्वितीय संस्वीकृति पूर्ण कथन तारीख 24 जनवरी, 1978 को किया जिसके द्वारा डा० जगन्नाथ मिश्र को आलिप्त कर दिया गया था और

जिसने मामले का समर्थन करने की ईप्सा की थी कि डा० जगन्नाथ मिश्र अपने पद का दुरुपयोग तथा स्वयं के लिए अवैध लाभ प्राप्त करके नवलकिशोर सिन्हा की सहायता करते रहे हैं। इस ओर ध्यान देना होगा कि एम० ए० हैदरी ने तारीख 3/4 नवम्बर, 1976 को पहले ही एक संस्वीकृतिपूर्ण कथन किया था जिसमें उसने डा० जगन्नाथ मिश्र को आलिप्त किया था किंतु द्वितीय संस्वीकृतिपूर्ण कथन में जो कि 24 जनवरी, 1978 को अभिलिखित किया गया था, उसने बिल्कुल स्पष्ट रूप से डा० जगन्नाथ मिश्र को आलिप्त कर लिया था। 28 जनवरी, 1978 को ए० के० सिंह ने भी एक संस्वीकृतिपूर्ण कथन एम० ए० हैदरी के द्वितीय संस्वीकृतिपूर्ण कथन का समर्थन करते हुए किया था। संस्वीकृतिपूर्ण कथन को अभिलिखित करने के तुरंत पश्चात् श्री डी० पी० ओझा ने जांच आयोग की अपनी रिपोर्ट यह सिफारिश करते हुए प्रस्तुत की कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध आपराधिक मामले संस्थित किये जाएं। इस सिफारिश का अनुमोदन पुलिस उपमहानिरीक्षक (सतर्कता) और साथ ही पुलिस महानिरीक्षक (सतर्कता) द्वारा भी किया गया था। तत्पश्चात् फाइल महाधिवक्ता श्री के० डी० चटर्जी के पास भेज दी गई थी और डा० जगन्नाथ मिश्र तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन को संस्थित किए जाने के बारे में सिफारिश को महाधिवक्ता द्वारा अनुमोदित कर दिया गया था जिसने यह राय व्यक्त की कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के अभियोजन के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। तत्पश्चात् फाइल 31 जनवरी, 1978 को मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर के समक्ष प्रस्तुत की गई थी और उसने उसका उसी दिन अनुमोदन कर दिया था और उसने यह निदेश दिया था कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध मामला संस्थित किया जाए और उनके विरुद्ध अभियोजन संस्थित किया जाए। सतर्कता विभाग में पुलिस ने तत्पश्चात् सतर्कता पी० एस० मामला संख्या 9 (2) 78 फाइल किया और आगे अन्वेषण किया और अंततोगत्वा अन्वेषण के परिणामस्वरूप तारीख 21 फरवरी, 1978 को डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दो आरोप-पत्र फाइल किए गए थे।

8. पटना उच्च न्यायालय के एक वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ए० के० दत्त को डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध इन दो सतर्कता मामलों का संचालन करने के लिए 26 फरवरी, 1979 को राज्य सरकार द्वारा विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किया गया था तथा 21 नवंबर, 1979 को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट और विशेष न्यायाधीश पटना ने इन दो मामलों का संज्ञान किया। किंतु इससे पूर्व कि इन दोनों मामलों पर आगे कार्यवाही की जाए, बिहार राज्य में सरकार बदल गई थी और एक बार पुनः डा० जगन्नाथ मिश्र जून, 1980 में मुख्यमंत्री बन गया। सत्ता में पुनः आने के पश्चात् डा० जगन्नाथ मिश्र ने अभियोजन की वापसी की समीचीनता के बारे में विचार करने के लिए 15 सितंबर, 1980 को मंत्रिमंडल की एक उपसमिति का गठन किया और 20 फरवरी, 1981 को मंत्रिमंडल की उपसमिति ने यह सिफारिश की कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध मामलों को वापस ले लिया जाए। मंत्रिमंडल की उपसमिति की इस सिफारिश को मंत्रिमंडल के समक्ष रखा गया था जिसकी अध्यक्षता डा० जगन्नाथ मिश्र ने की और 24 फरवरी, 1981 को मंत्रिमंडल ने इसका अनुमोदन कर दिया था। उसी दिन जिस दिन कि सिफारिश का मंत्रिमंडल की उपसमिति द्वारा अनुमोदन किया गया था, यह विनिश्चय किया गया कि डा० जगन्नाथ मिश्र तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दोनों मामलों को वापस ले लिया

जाए और राज्य सरकार ने वकीलों की उस सूची को रद्द कर दिया था जिसका गठन सतर्कता विभाग से संबंधित मामलों का संचालन करने के लिए पिछली सरकार द्वारा किया गया था और इसके स्थान पर एक नई सूची का गठन किया गया जिसमें 4 वकील थे जिनमें लल्लन प्रसाद सिन्हा भी सम्मिलित थे। तत्पश्चात् बिहार राज्य के सचिव ने 25 फरवरी, 1981 को जिला मजिस्ट्रेट के नाम एक पत्र लिखा जो निम्न प्रकार है—

"बिहार सरकार
विधि (न्याय) विभाग

प्रेषिती : श्री अम्बिका प्रसाद सिन्हा,
सचिव, बिहार सरकार, पटना

सेवा में

जिला मजिस्ट्रेट,
पटना

पटना, तारीख 25 फरवरी, 1981

विषय : पी० एस० मामला संख्या 9 (2) 78 तथा पी० एम० मामला संख्या 53 (8) 78 के वापस लेने के संबंध में

महोदय,

मुझे यह कहने का निदेश हुआ है कि सरकार ने राज्य तथा लोक नीति के कारणों के आधार पर अभियोजन की असमीचीनता के आधार पर उपर्युक्त दोनों आपराधिक मामलों को अभियोजन से वापस लेने का विनिश्चय किया है।

अतः आपसे निवेदन है कि आप लोक अभियोजक को यह निदेश दें कि वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन उपर्युक्त कारणों के आधार पर ऊपर वर्णित दोनों मामलों को, स्वयं विचार करने के पश्चात् वापस लेने के लिए न्यायालय से निवेदन करे।

कृपया पत्र की अभिस्वीकृति भेज दें और की गई कार्यवाही के परिणामों के बारे में इस विभाग को सूचित भी करें।

भवदीय,
ह०-अपठित
सरकार के सचिव, पटना

ज्ञापन सं० एम० डब्ल्यू० 26/81, 1056-जे०
पटना, तारीख 25 फरवरी, 1981
सूचनार्थ प्रति सतर्कता विभाग को प्रेषित की गई।"

तत्पश्चात् श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा ने 16 जून, 1981 को विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय में एक आवेदन फाइल किया और यह निवेदन किया गया कि सतर्कता पी० सी० मामला सं० 9 (2) 78 के अधीन डा० जगन्नाथ मिश्र

और अन्य व्यक्तियों के अभियोजन से वापस लेने की अनुज्ञा के लिए निवेदन करें। अभियोजन से वापस लेने की अनुज्ञा लेने के लिए आवेदन में चार आधार कथित किए गए थे और आवेदन भाषा के अनुसार वे निम्न प्रकार हैं—

(1) साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सफलतापूर्वक अभियोजन के अवसर की कमी।

(2) राजनैतिक तथा व्यक्तिगत वैमनस्य के परिणामस्वरूप व्यक्तियों को आलिप्त किया जाना।

(3) राज्य तथा लोक नीति के कारणों के आधार पर अभियोजन की असमीचीनता, और

(4) बदली हुई स्थिति को ध्यान में रखते हुए अभियोजन को चालू रखने से लोकहित पर पड़ने वाले विपरीत प्रभाव।

आवेदन में इन आधारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनको निम्नलिखित शब्दों में विस्तारपूर्वक कहा गया है—

"यह कि इसलिए मैंने मामले की डायरी तथा मामले से संबद्ध सुसंगत सामग्री का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है और मैं इस निष्कर्ष प्रर पहुंचा हूं कि मामले की स्थिति और उसके अन्वेषण के समय विद्यमान परिस्थितियों में ऐसा प्रतीत होता है कि यह मामला केवल राजनैतिक वैमनस्य के आधार पर संस्थित किया गया था जिससे कि डा० जगन्नाथ मिश्र की, जो कि उस समय विरोधी दल के नेता थे और देश में कांग्रेस दल के जाने-माने नेताओं में से एक थे, स्वच्छ छवि को धूमिल किया जा सके। अभियोजन को लोकन्याय के हित में अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से प्रारंभ नहीं किया गया था। मैं इस बात की इजाजत चाहूंगा कि इस अर्जी के दिए जाने के समय उपर्युक्त निवेदन और निष्कर्ष के समर्थन में सामग्री प्रस्तुत की जाए।

यह कि यह बात लोक-हित में है कि ऐसे अभियोजन पर जिसके कि सफल होने का युक्तियुक्त अवसर नहीं है और वह राजनैतिक वैमनस्य के परिणामस्वरूप प्रारंभ किया गया है और लोक न्याय के उद्देश्य की अभिवृद्धि से उसका कोई संबंध नहीं है, आगे कार्यवाही न की जाए। इसके अतिरिक्त बात यह है कि चूंकि वह कार्यपालिका के उस प्रमुख के विरुद्ध निर्देशित किया गया है जिसमें न केवल निर्वाचकों ने अपना सद्भाव और विश्वास व्यक्त किया है बल्कि जो विधानमंडल में बहुमत दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया है। ये दोनों घटनायें मामले को संस्थित करने के पश्चात् घटित हुई हैं।"

वापस लिए जाने के बारे में आवेदन का शिवनंदन पासवान, जो बिहार विधान-सभा के सदस्य हैं और उसके उपाध्यक्ष द्वारा समय विशेष पर विरोध किया गया था। वापस लिए जाने के लिए आवेदन पर आपत्ति करने के लिए श्री शिवनंदन पासवान के सुने जाने के अधिकार के बारे में श्री लल्लन प्रसाद सिंहा के द्वारा चुनौती दी गई थी और इस चुनौती को विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा स्वीकार कर लिया गया था और यह अभिनिर्धारित

किया गया था कि अभियोजन वापस जाने के लिए विषय में आवेदन का विरोध करने के लिए सुने जाने का शिवनंदन पासवान को कोई अधिकार नहीं है। इसके पश्चात् विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट ने गुणागुण के आधार पर वापस लेने के लिए आवेदन पर विचार किया और तारीख 28 जून, 1981 को एक आदेश पारित किया जिसमें उसके समक्ष दी गई विरोधी दलीलों का उल्लेख करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि "यह एक ऐसा उपयुक्त मामला है जिसमें कि वापस लिए जाने के लिए विद्वान् विशेष लोक अभियोजक के निवेदन को मंजूर कर लिया जाना चाहिए और इसलिए इसे मंजूर किया जाता है" और डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य अभियुक्त व्यक्तियों को उन्मोचित किए जाने का आदेश किया गया था। अतः इस ओर ध्यान देना होगा कि अपनी अनुमति दिए जाने के लिए अपने आदेश में विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा बिल्कुल भी कारण नहीं दिए गए थे जिससे कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन वापस लिया जा सके। आदेश से यह भी प्रतीत नहीं होता है कि वापस लेने के बारे में अपनी सहमति दिए जाने के लिए विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट किन कारणों से प्रेरित हुआ था।

9. तत्पश्चात् अभियोजन को वापस लेने की अनुज्ञा देने वाले विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध शिवनंदन पासवान ने 1981 का दांडिक पुनरीक्षण आवेदन संख्या 874 फाइल किया। किंतु यह आवेदन तारीख 14 सितंबर, 1981 के उच्च न्यायालय के एक आदेश द्वारा आरंभ में ही खारिज कर दिया गया था। उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट अभियोजन को वापस लेने के लिए लल्लन प्रसाद सिंहा द्वारा समर्थन किए गए आधारों पर विचार करके "इस बात से संतुष्ट था कि अभियोजन वापस लेने के लिए विशेष लोक अभियोजक को अनुज्ञा दे दी जानी चाहिए" और इसलिए विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश में कोई अवैधता नहीं है। उच्च न्यायालय ने इस बात पर विचार भी नहीं किया कि वे आधार, जिन पर कि अभियोजन को वापस लिया जाना ईप्सित था, न्यायोचित थे अथवा नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कि उच्च न्यायालय ने इस आधार पर आगे कार्यवाही की कि यदि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट संतुष्ट था तो अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञा दे दी जानी चाहिए। इतना ही पर्याप्त था और उच्च न्यायालय के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए समर्थित आधारों की वैधता की परीक्षा करता। उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण, जैसा कि हम अब इंगित करेंगे, पूर्ण रूप से त्रुटिपूर्ण है।

10. चूंकि उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण आवेदन आरंभ में ही खारिज कर दिया दिया था इसलिए शिवनंदन पासवान ने इस न्यायालय से विशेष इजाज़त लेकर प्रस्तुत अपील की है। इस अपील की सुनवाई तीन न्यायमूर्तियों द्वारा की गई थी जिसमें कि न्यायमूर्तिगण तुलज़ापुरकर, बहरूल इस्लाम और आर० बी० मिश्र थे। न्यायमूर्तियों में अपील के विनिश्चय के संबंध में मतवैभिन्न था। न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से प्रथम दृष्ट्या मामला बन गया है। और वह कारण, जिस पर कि राज्य सरकार द्वारा जोर दिया गया था कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों को दोषसिद्ध किए जाने के लिए पर्याप्त साक्ष्य

नहीं था, साधार नहीं है। विद्वान् न्यायमूर्ति ने विस्तारपूर्वक अभिलेख पर की सामग्री पर विचार करके यह दृष्टिकोण अपनाया और यह अभिनिर्धारित किया कि गुणागुण अथवा विधि के आधार पर अभियोजन वापस लिया जाना न्यायोचित नहीं था और अवैध होने के कारण उसे अभिखंडित किया जाना चाहिए था। न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र ने दूसरी ओर यह दृष्टिकोण अपनाया कि संपूर्ण अन्वेषण दूषित था और ऐसे अन्वेषण के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुए साक्ष्य के आधार पर किसी भी व्यक्ति को दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता और इसलिए अभियोजन का वापस लिया जाना न्यायोचित था। न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम और आर० बी० मिश्र के बहुमत निर्णय को ध्यान में रखते हुए अपील खारिज कर दी गई थी।

11. इसके पश्चात् शिवनन्दन पासवान ने इस न्यायालय के समक्ष एक पुनर्विलोकन आवेदन फाइल किया। किंतु उस तारीख से पूर्व ही जिसको कि पुनर्विलोकन आवेदन फाइल किया गया था, न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम ने पहले से ही इस न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया था। अब इस न्यायालय के नियमों के अधीन पुनर्विलोकन आवेदन की सुनवाई उसी न्यायपीठ द्वारा की जाती है किंतु चूंकि न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम न्यायाधीश के रूप में कार्यरत नहीं थे अतः न्यायमूर्ति ए० एन० सेन को न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर और आर० बी० मिश्र के साथ न्यायपीठ में सम्मिलित होने के लिए कहा गया था और इस प्रकार न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर, ए० एन० सेन और आर० बी० मिश्र से गठित न्यायपीठ द्वारा पुनर्विलोकन आवेदन की सुनवाई की गई थी। पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ[1] का निर्णय न्यायमूर्ति ए० एन० सेन द्वारा 22 अगस्त, 1983 को दिया गया था और उसके पश्चात् उसके विरोधी पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों को वर्णित करने के पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने निम्न प्रकार मत अभिव्यक्त किया:—

> "पुनर्विलोकन याचिका को लागू होने वाले सुस्थापित सिद्धांतों और इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर गंभीरता तथा सावधानी से विचार करते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार किया जाना चाहिए और अपील की पुनः सुनवाई की जानी चाहिए, मैं जानबूझकर इस बात से विलग रहा हूं कि कारणों और उन विभिन्न आधारों का, जिनके कारण मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, कथन न किया जाए। उन तथ्यों और परिस्थितियों के किसी विनिश्चय, जिनसे कि मेरे मतानुसार अभिलेख पर की प्रकट गलती गठित होती है और इस निष्कर्ष के लिए मेरे द्वारा दिए गए कारण कि ये तथ्य और परिस्थितियां अभिलेख पर की प्रकट गलती गठित करते हैं, का परिणाम पुनर्विलोकन याचिका असफल होने से इस बात की संभावना होगी कि इससे अपील पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े जिससे कि मेरे विनिश्चय के परिणामस्वरूप पुनः सुनवाई की जानी होगी।"

और परिणामस्वरूप विद्वान् न्यायाधीश ने पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करते हुए और अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश देते हुए एक आदेश पारित किया। किंतु चूंकि इस निर्णय की तारीख से पहले ही पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ को **मोहम्मद मुमताज**

1 (1983) 4 एस० सी० सी० 104.

बनाम श्रीमती नंदिनी सत्पथी[1] का मामला पहले ही निर्देशित किया जा चुका था, अत: विद्वान् न्यायाधीश ने यह निदेश दिया कि नंदिनी सत्पथी के मामले के तुरंत पश्चात् ही प्रस्तुत अपील की पुनः सुनवाई की जानी चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत मामला/अपील पांच न्यायाधीशों की इस न्यायपीठ के समक्ष आया है।

12. प्रारंभिक स्वरूप की एक दलील डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से श्री नारीमन द्वारा दी गई थी और वह दलील यह थी कि न्यायमूर्ति ए० एन० सेन द्वारा पुनर्विलोकन याचिका के बारे में पारित किए गए आदेश को ठीक प्रकार से समझने पर यह स्पष्ट था कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ ने पुनर्विलोकन की अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं किया था और मूल न्यायपीठ द्वारा किए गए आदेश को अपास्त कर दिया था। दलील यह दी गई थी कि मूल न्यायपीठ द्वारा किया गया आदेश अपास्त नहीं हुआ था और आरक्षित नहीं रखा गया था और इसलिए संविधान न्यायपीठ इस बात के लिए सक्षम नहीं थी कि गुणागुण के आधार पर अपील की इस रूप में पुनः सुनवाई की जाए जैसे कि मूल न्यायपीठ का आदेश अस्तित्वशील ही नहीं था। डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से श्री नारीमन द्वारा इस बात पर जोर दिया गया था कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा पारित आदेश वैध और विधिमान्य नहीं था क्योंकि यह सकारण आदेश नहीं था। इसके इस विषय में कोई कारण नहीं दिए गए थे कि मूल न्यायपीठ के आदेश का क्यों पुनर्विलोकन किया जाए। वास्तव में श्री नारीमन द्वारा इस दलील पर विशेष रूप से जोर नहीं दिया गया था किंतु हमारे विचार से किसी भी स्थिति में इस दलील में कोई सार नहीं है। निस्संदेह यह बात सच है कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ का आदेश पूर्ण रूप से मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त नहीं करता है और उसमें कुछ ठीक अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है, अर्थात् "मैं·········पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करता हूं।" किंतु यह स्पष्ट है कि जबकि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ ने अभिव्यक्ति, "मैं ·······पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करता हूं" का प्रयोग किया गया था, इसका अधिक स्पष्ट रूप से यह अर्थ है कि वह पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर कर रहीं थी और मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त किया गया था, नहीं तो यह समझना बहुत कठिन है कि वह संभवत: "अपील की पुनः सुनवाई का निदेश" कैसे दे सकती थी। अपील की सुनवाई तभी की जा सकती थी यदि पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार कर ली गई थी और मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त कर दिया गया था और इसलिए स्पष्ट रूप से जबकि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ ने अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश दिया था तो यह आवश्यक विवक्षा द्वारा अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उसने पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर कर लिया था और मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त कर दिया था। हम इस बात की इजाज़त नहीं दे सकते कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के आदेश के सही अर्थ और प्रभाव को इस आधार पर निरर्थक बना दिया जाए कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा तनिक अनुपयुक्त भाषा का प्रयोग किया गया था। हमें अवश्य ही आदेश के प्रकट स्वरूप की अपेक्षा उसके सार पर ध्यान देना चाहिए। अत: हम अवश्य ही इस आधार पर अग्रसर होते हैं कि मूल न्यायपीठ के आदेश को अपास्त

---

1 (1987) 1 एस० सी० सी० 269.

कर दिया गया था और पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश दिया गया था।

13. हमें अवश्य ही यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा प्रतीत होता है कि पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करने और अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश देने के लिए पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ द्वारा कोई कारण नहीं दिए गए थे। प्रश्न यह कि क्या इससे पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के आदेश में कोई कमी आ गई थी। इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ उसके द्वारा किए गए आदेश के लिए कारण देने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं थी। सर्वोच्च न्यायालय अंतिम न्यायालय होते हुए जिसके निर्णय के विरुद्ध आगे अपील नहीं की जा सकती, उसके लिए अपने द्वारा किए गए किसी आदेश के लिए कारण देने की कोई विधिक बाध्यता नहीं है। सामान्य रूप से इस बात का पता चलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका का उच्चतम न्यायालय बिना कोई कारण दिए उत्प्रेषण (सरशियोरेराई) की रिट स्वीकार कर लेता है। किंतु मात्र इस कारण से सर्वोच्च न्यायालय के लिए कारण देने के कोई विधिक बाध्यता नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय तनिक भी कोई कारण दिए बिना मामलों का निपटारा कर दे। यह विशेष रूप से न्यायोचित और वांछनीय है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने द्वारा दिए गए आदेश के लिए कारण दर्शित करे। किंतु जब सर्वोच्च न्यायालय उस आदेश को अपास्त करते हुए पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करते हुए उसका इस आधार पर निपटारा करता है कि अभिलेख पर की कोई प्रकट गलती है तो यह सर्वोच्च न्यायालय के लिए वांछनीय होगा कि पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करने के लिए कारण न दिए जायें। जहां सर्वोच्च न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि अभिलेख पर की कोई प्रकट गलती है और वह आदेश जिसका पुनर्विलोकन करना ईप्सित है उसे अवश्य ही अपास्त किया जाना चाहिए और मामले की अवश्य ही पुनः सुनवाई की जानी चाहिए तो यदि यह मत अपनाये जाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय कारणों को दर्शित करता है तो पराजित पक्षकार पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय की पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के लिए कारण देने आवश्यक हैं तो पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ को मामले पर पूर्ण रूप से और विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिए और इस बात को स्पष्ट करना चाहिए कि उसके मतानुसार मूल न्यायपीठ द्वारा दिए गए कारणों में कौन-सी प्रकट गलती थी और अवश्य ही इसका यह परिणाम होगा कि यह मामले में पहले ही किए गए निर्णय के समान होगा और उसका पुनः सुनवाई करने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करते हुए और उस आदेश को, जिसके बारे में पुनर्विलोकन करना ईप्सित है यहां तक कि मामले की पुनः सुनवाई करने के पूर्व भी उससे यह निदेश मिल जाएगा कि मामले की किस प्रकार सुनवाई की जाए और ऐसे निदेश से चाहे वह आबद्धकर अथवा प्रेरणा पूर्ण स्वरूप का हो, अधिकांश रूप से मामले की सुनवाई के समय पराजित पक्षकार पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। अतः हमारा यह मत है कि प्रस्तुत मामले में पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ को, पुनर्विलोकन याचिका को मंजूर करने के लिए और अपील की पुनः सुनवाई करने का निदेश देने के लिए, दोष नहीं दिया जा सकता। इस ओर ध्यान देना महत्वपूर्ण बात है कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के तीनों न्यायाधीश इस बात में एक मत थे कि यह दृष्टिकोण अपनाया जाए कि "तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर किसी विनिश्चय के,

1986(12) eILR(PAT) SC 41

जिससे कि…………अभिलेख पर की प्रकट गलती गठित होती है और मेरे द्वारा दिए गए कारणों के, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन तथ्यों और परिस्थितियों से अभिलेख पर की प्रकट गलती गठित होती है, परिणामस्वरूप पुनर्विलोकन याचिका सफल हो जाए उससे यह संभावना होगी कि उस अपील पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिसकी कि मेरे द्वारा दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप पुन: सुनवाई करनी होगी" इसलिए श्री नारीमन द्वारा दी गई इस दलील को अवश्य ही अस्वीकार किया जाना चाहिए।

14. डा०जगन्नाथ मिश्र की ओर से विद्वान् काउंसेल ने इस दृष्टि से कि अपील फाइल किए जाने के लिए शिवनन्दन पासवान को सुने जाने के अधिकार को अनुचित ठहराया जाए, प्रारंभिक स्वरूप की एक अन्य दलील भी दी थी । इस बात पर जोर दिया गया था कि जब श्री लल्लन प्रसाद सिंहा ने डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञा लेने के लिए आवेदन किया तो शिवनन्दन पासवान को वापस लिए जाने का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि यह मामला स्पष्ट रूप से लोक अभियोजक और मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के बीच का मामला था और किसी अन्य व्यक्ति को हस्तक्षेप करने और वापस लिए जाने का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था और चूंकि शिवनन्दन पासवान को वापस लिए जाने का विरोध करने का कोई आधार नहीं था तो वह विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के तथा वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञा देते हुए उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध अपील करने का हकदार नहीं था। हमारे विचार से इस दलील में कोई बल नहीं है। अब यह सुस्थापित विधि है कि कोई दांडिक कार्यवाही ऐसी कार्यवाही नहीं है जिससे कि किसी प्राइवेट शिकायत का ही प्रतिसमर्थन किया जाए किंतु यह एक ऐसी कार्यवाही है जिसे समाज के हित में अपराधी को दंड दिए जाने के उद्देश्य के लिए संस्थित किया जाता है। यह समाज में स्थायित्व तथा सुव्यवस्था कायम रखने के लिए होती है। यह कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिनसे अपराध गठित होते हैं और किसी नागरिक को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह दंड विधि के क्रियान्वयन को, अपराधी को जानकारी में लाने के उद्देश्य के लिए, गतिशील बनाए। इसी कारण से **ए० आर० अंतुले** बनाम **आर० एस० नायक**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह इंगित किया था कि "समाज के हित में अपराधी को दंड दिया जाना, उन दंड कानूनों का एक उद्देश्य है जो कि समाज के बृहत्तर हित में अधिनियमित किये जाते हैं। अत: कार्यवाहियों को संस्थित करने के अधिकार को कम नहीं किया जा सकता, सीमित नहीं किया जा सकता अथवा सुने जाने के अधिकार को संकीर्ण सूत्र में बांध कर व्यर्थ नहीं किया जा सकता………"। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि परिवादी के सुने जाने का अधिकार एक ऐसी संकल्पना है जो कि दांडिक विधि-शास्त्र से अलग है। अब यदि कोई नागरिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करा सकता है अथवा परिवाद फाइल कर सकता है और दंड विधि के क्रियान्वयन को गतिशील कर सकता है और ऐसा किए जाने के लिए उसके सुने जाने के अधिकार को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता तो हमें ऐसे कोई कारण दृष्टिगत नहीं होते कि ऐसा कोई नागरिक, जिसे यह मालूम हो जाता है कि समाज के विरुद्ध किसी अपराध के लिए कोई अभियोजन गलत रूप से वापस लिए जा रहा है, ऐसे वापस लिए जाने का विरोध क्यों नहीं कर सकता। यदि वह किसी अपराधिक

---

[1] [1984] 2 एस० सी० सी० 500.

अभियोजन के लिए परिवादी या उसको संस्थित करने वाला हो सकता है तो वह समान रूप से इस बात के लिए हकदार होना चाहिए कि वह उस आपराधिक अभियोजन को वापस लेने का विरोध भी कर सके जो उसके कहने से पहले ही प्रारंभ किया जा चुका था। यदि वह अपराध जिसके लिए अभियोजन प्रारंभ किया जा रहा है, एक ऐसा अपराध है जो कि समाज के विरुद्ध है और मात्र वह किसी व्यक्ति के विरुद्ध अपराध नहीं है तो समाज के किसी सदस्य को अभियोजन को संस्थित करने का अवश्य ही अधिकार होना चाहिए और साथ ही ऐसे अभियोजन के वापस किए जाने का विरोध करने का अधिकार भी होना चाहिए यदि वह पहले ही संस्थित किया जा चुका है। यहां प्रस्तुत मामले में अपराध डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध आरोपित ऐसे अपराध हैं जो भ्रष्ट आचरण आपराधिक न्यासभंग आदि से संबंधित हैं और इसलिए कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कि लोक प्रशासन, लोक नैतिकता के स्वच्छ होने के विषय में हितबद्ध है, इस बात के लिए हकदार होगा कि वह परिवाद फाइल कर सके, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा **ए० आर० अंतुले** बनाम **आर० एस० नायक**[1] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया था और समान रूप से वह इस बात के लिए भी हकदार होगा कि वह उस अभियोजन को, यदि वह पहले से ही प्रारंभ किया जा चुका है, वापस लेने के लिए विरोध कर सके। अतः हमें अवश्य ही डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से जोर दी गई इस दलील को नामंजूर करना चाहिए कि शिवनन्दन पासवान को अभियोजन को वापस लेने का विरोध करने के लिए सुने जाने का अधिकार नहीं था। यदि वह अभियोजन के वापस लिए जाने का विरोध करने का हकदार था तो सुतराम अवश्य ही इसका यह अर्थ होगा कि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा उसके विरोध किए जाने को नामंजूर किए जाने पर वह उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण आवेदन करने के लिए हकदार था और उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन को खारिज किए जाने पर उसे इस न्यायालय में अपील करने का अधिकार भी था। अतः डा० जगन्नाथ मिश्र की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई इस दलील को अवश्य ही अस्वीकार करना चाहिए।

15. डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से एक अन्य दलील भी इस उद्देश्य से दी गई थी कि अपील के गुणागुण के बारे में इस न्यायालय द्वारा जांच कराई जाए। डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से इस बात पर जोर दिया गया था कि यह एक ऐसा उपयुक्त मामला नहीं है जिसमें कि संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन न्यायालय अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करके हस्तक्षेप करे क्योंकि अभियोजन को वापस लेने के लिए विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा अनुज्ञा दिए जाने का परिणाम यह हुआ कि डॉ० जगन्नाथ मिश्र को उन अपराधों से मुक्त कर दिया गया था जिनके लिए उसे आरोपित किया गया था और मुक्त किए जाने के इस आदेश को पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय द्वारा कायम रखा गया था और इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों में से दो द्वारा कायम रखा गया था और यह बात अनुचित तथा अन्यायोचित होगी कि उन्मोचन के उस आदेश को उलट दिया जाए और यह निदेश दिया जाए कि डॉ० जगन्नाथ मिश्र का पुनः विचारण किया जाए। हमने इस दलील पर विचार किया है किंतु इससे हमारा कोई समाधान नहीं हुआ। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि इस दलील के पीछे कौन-सा तर्क विद्यमान है। निस्संदेह यह बात सच है कि

[1] [1984] 2 एस० सी० सी० 500.

डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने का प्रभाव यह हुआ कि वह उन अपराधों से मुक्त हो गया जिनके लिए उसका विचारण किया जाना ईप्सित था किंतु यह उन्मोचन का एक आदेश नहीं था जिसे कि उच्च न्यायालय के समक्ष उसके द्वारा फाइल किए गए आवेदन के पुनरीक्षण में शिवनंदन पासवान द्वारा चुनौती दी गई थी किंतु एक ऐसा आदेश था जिससे कि अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए अनुमति दी गई थी जिसे उसके द्वारा चुनौती दी गई थी। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 227 और 239 के अधीन दिये गए उन्मोचन के आदेश की अनुरूपता ही एक समान नहीं है क्योंकि उस स्थिति में यथास्थिति सेशन न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट उस समस्त सामग्री पर विचार करता है जो कि उसके समक्ष होती और तब इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है अथवा उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप निराधार हैं। किंतु इस मामले में जबकि मजिस्ट्रेट धारा 321 के अधीन अभियोजन को वापस लिए जाने के लिए अनुमति देता है तो न्यायिक प्रयोग का यह मामला बिल्कुल भिन्न होता है जिसका कि उसे पालन करना होता है और इसलिए यह कहना ठीक नहीं होगा कि जब उच्च न्यायालय अभियोजन से वापस लेने के लिए अनुमति देते हुए मजिस्ट्रेट के आदेश को अपास्त करता है तो उच्च न्यायालय वास्तव में उन्मुक्ति के उस आदेश को, जो कि मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया था, अपास्त करता है। उसी स्थिति में उच्च न्यायालय जो कार्य करता है, वह इस बात से कुछ अधिक कार्य नहीं होता कि उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाए कि अभियोजन से वापस लिया जाना गलत अथवा अनुचित था और यह कि अभियुक्त के विरुद्ध अभियोजन चालू रहना चाहिए और अन्ततोगत्वा यदि पर्याप्त साक्ष्य विद्यमान नहीं है अथवा आरोप निराधार हैं तो तब अभियुक्त को उन्मोचित कर दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त यह उल्लेख किया जा सकता है कि मजिस्ट्रेट द्वारा किया गया आदेश पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय द्वारा अपास्त भी किया जा सकता है, यदि उच्च न्यायालय इस बात से संतुष्ट है कि मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश गलत, अवैध अथवा अनुचित है या वे कार्यवाहियां, जिनका कि परिणाम उन्मोचन का आदेश है, किसी अनियमितता से ग्रस्त हैं। उच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग की जाने वाली पुनरीक्षण की शक्ति जो धारा 397 के अधीन दी गई है, बहुत ही विस्तृत शब्दों में व्यक्त की गई है और इस शक्ति का प्रयोग करने में वह इस बात के लिए अपना समाधान कर सकता है कि मजिस्ट्रेट द्वारा पारित कोई आदेश सही, वैध अथवा उचित है अथवा ऐसे मजिस्ट्रेट द्वारा की गई कार्यवाहियां नियमित हैं। जब यह न्यायालय धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण की शक्तियों का प्रयोग करते हुए उच्च न्यायालय द्वारा किए गए किसी आदेश के विरुद्ध अपील की सुनवाई कर रहा होता है तो वह वैसी ही पुनरीक्षण की शक्ति होती है जिसमें कि यह न्यायालय प्रयोग कर रहा होता है और इसीलिए यह न्यायालय अनुचित रूप से मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए आदेश और उच्च न्यायालय द्वारा पुष्ट किए गए उस आदेश में अवश्य ही हस्तक्षेप कर सकता है, यदि इसका यह समाधान हो गया है कि वह आदेश गलत, अवैध अथवा अनुचित है। वास्तव में ऐसे मामले में जैसा कि प्रस्तुत मामला है जहां कि ऐसे समय में लोक प्रशासन के स्वच्छ होने के बारे में प्रश्न किया जाता है जबकि नैतिक मूल्यों का घोर ह्रास होता है और लोक जीवन के चरित्र के बारे में ऊहापोह होती प्रतीत होती है, तो इस न्यायालय को यह मानना चाहिए कि उस पर वह कार्य करने की बाध्यता है जिसके लिए कि वह समाज के प्रति उत्तरदायी है और उस विषय में जब कभी यह

अभिकथन किया जाता है कि भ्रष्ट आचरण अथवा आपराधिक न्यासभंग ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाता है जो कि उच्च सरकारी पद पर पदासीन है, सावधानीपूर्वक इस बात की जांच करे कि अभियोजन को गलत रूप से वापस से लिया गया है और इस विषय में तनिक भी चिंता नहीं होनी चाहिए कि उच्च न्यायालय में अथवा निचले न्यायालय में वापस लिए जाने के लिए ऐसी सम्मति लेने में कितने न्यायाधीश सम्बद्ध रहे हैं। यहां प्रस्तुत मामले में निस्संदेह यह बात सच है कि अभियोजन को वापस लिए जाने के लिए अनुमति देने का आदेश विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया था और उच्च न्यायालय द्वारा उसे कायम रखा गया था और इस न्यायालय की न्यायपीठ के 3 न्यायाधीशों में से दो, जिन्होंने कि प्रारंभ में अपील की सुनवाई की थी, उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से सहमत थे किंतु हम इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकते कि पुनर्विलोकन करने वाली न्यायपीठ के अनुसार, जिसमें कि 3 न्यायाधीश थे, पूर्ववर्ती न्यायपीठ के निर्णय में अभिलेख पर की प्रकट गलती थी। अतः संख्याओं के गणित का, इस न्यायालय को प्रेरित करने के इस उद्देश्य से आश्रय नहीं लिया जा सकता कि यह न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपने विवेक का प्रयोग न करें।

16. इसके पश्चात् डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से एक दलील यह दी गई थी कि शिवनंदन पासवान कर्पूरी ठाकुर के मंत्रिमंडल में मंत्री था और वह लगातार उस राजनैतिक दल का सदस्य रहा जो डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरोध में था और इसलिए वह डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन के वापस लेने का विरोध करने, उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण आवेदन फाइल करने तथा इस न्यायालय में अपील करने में राजनीतिक प्रयोजन के द्वारा प्रेरित था। इस दलील में भी कोई सार नहीं है और हम इससे प्रभावित नहीं हुए। तर्क देने के प्रयोजन से हम यह बात स्वीकार कर सकते हैं कि शिवनंदन पासवान ने डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने का विरोध किया था क्योंकि उसे डॉ० जगन्नाथ मिश्र के साथ राजनीतिक बातों को तय करना था और वह राजनीतिक वैमनस्य के द्वारा अभिप्रेरित था किंतु यह ऐसा कारण नहीं है कि अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए सम्मति देते हुए विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए आदेश को क्यों कायम रखा जाए, यदि अन्यथा वह आदेश अनुचित और अन्याययुक्त प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि अभियोजन के वापस लिए जाने का यदि किसी ने भी विरोध नहीं किया तो क्या विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट और उच्च न्यायालय द्वारा अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए सम्मति देना न्यायोचित था और यह बात आवश्यक रूप से मामले के बारे में न्यायालय के सम्मुख रखे गए तथ्यों और विवरण पर निर्भर करेगी। शिवनंदन पासवान का राजनीतिक प्रयोजन अथवा वैमनस्य एक विधिमान्य आधार नहीं हो सकता यदि अन्यथा मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों में वह अनुचित अथवा अविधिमान्य था। विधि की यह एक सुस्थापित प्रतिपादना है कि कोई आपराधिक अभियोजन यदि वह अन्यथा न्यायोचित है और पर्याप्त साक्ष्य पर आधारित है तो वह असद्भाव अथवा प्रथम इत्तिला देने वाले या परिवादी के असद्भाव या राजनीतिक वैमनस्य के आधार पर दूषित नहीं हो जाएगा। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने **पंजाब राज्य बनाम गुरदयाल सिंह**[1] वाले मामले में यह ठीक ही मत अभिव्यक्त किया है—

[1] [1980] 4 उम० नि० प० 66=[1980] 1 एस० सी० आर० 1071.

"यदि शक्ति का प्रयोग विधिपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है तो दुर्भाव के द्वारा प्रेरणा अथवा उत्प्रेरणा को विधिसम्मत नहीं कहा जा सकता।"

यही सिद्धांत स्पष्ट रूप से उस स्थिति में लागू होना चाहिए जहां अभियुक्त के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने का किसी व्यक्ति द्वारा विरोध किया जाता है। उसके राजनीतिक अभिप्रेरणा अथवा वैमनस्य वापस लिए जाने के लिए सम्मति देने को न्यायोचित नहीं बना सकता, यदि वह अन्यथा विधिपूर्ण तथा न्यायोचित है।

17. निस्संदेह यह बात सच है कि डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन डॉ० जगन्नाथ मिश्र के सत्ता से हट जाने के पश्चात् कर्पूरी ठाकुर की पूर्ववर्ती सरकार द्वारा प्रारंभ किया गया था, किंतु स्वयं उससे इस अनुमान को समर्थन नहीं मिलता कि अभियोजन का प्रारंभ किया जाना राजनीतिक वैमनस्य अथवा द्वेष-भावना द्वारा प्रेरित था क्योंकि यह बात बिल्कुल संभव है कि डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन के प्रारंभ किए जाने को न्यायोचित ठहराए जाने के लिए अवश्य ही सामग्री होनी चाहिए थी और उत्तरवर्ती सरकार ने अवश्य ही विधिपूर्ण रूप से यह अनुभव किया हो कि अभियोजन के प्रारंभ किए जाने के लिए कोई मामला बनता है और इसीलिए अभियोजन को प्रारंभ किया गया था। उत्तरवर्ती सरकार के लिए ऐसा करना कोई गलत बात नहीं थी और अभियोजन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह उस आधार पर दूषित हो गया था। संक्षेप में यह वही बात है जो संविधान न्यायपीठ की ओर से निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला द्वारा **कृष्ण बल्लभ सहाय और अन्य** बनाम **जांच आयोग**[1] वाले मामले में निम्न प्रकार इंगित की गई थी—

"इस न्यायालय ने इस दलील का, कि उत्तरवर्ती मंत्रिमंडल इस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता, उत्तर पहले-ही दो मामलों में दे दिया है। उन दो मामलों में से पूर्वतर मामले का जिक्र उच्च न्यायालय ने पहले ही कर दिया है। जो मामला हाल ही में विनिश्चित हुआ था वह श्री पी० वी० जगन्नाथ राव और अन्य **बनाम** उड़ीसा सरकार (1968) 3 एस० सी० आर० 789 (1968 की संख्या 1148 से लेकर संख्या 1150 वाली सिविल अपीलें जिनका विनिश्चय 30 अप्रैल, 1968 को किया गया था) वाला मामला है। यह कहने के लिए किसी प्रमाणित व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है कि यदि मंत्री के विरुद्ध कोई जांच की जानी है तो वह स्वयं उसका आदेश नहीं देगा बल्कि उसके लिए आदेश किसी और व्यक्ति को देना होगा। जब कोई मंत्रिमंडल अपदस्थ हो जाता है तब उसका उत्तरवर्ती मंत्रिमंडल किसी भी सुस्पष्ट आरोप पर विचार कर सकता है और जांच करने का आदेश दे सकता है अन्यथा हरेक मंत्रिमंडल की अपनी मर्जी से विधि बनायी जाएगी और उसके मंत्रियों के भ्रष्ट आचरण की संवीक्षा नहीं की जा सकेगी।"

ये मताभिव्यक्तियां, डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से जोर देकर दी गई। इस दलील का पूर्णरूपेण उत्तर है कि इस न्यायालय को अभियोजन के वापस लिए जाने के बारे में हस्तक्षेप नहीं

---

[1] [1968] 2 उम० नि० प० 1172=[1969] 1 एस० सी० आर० 387.

करना चाहिए क्योंकि कर्पूरी ठाकुर अथवा शिवनन्दन पासवान की उत्तरवर्ती सरकार राजनीतिक अभिप्रेरणा अथवा वैमनस्य द्वारा प्रेरित थी ।

18. डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह दलील भी दी है कि इस प्रयोजन के लिए बनाए गए किसी जांच आयोग के माध्यम से पूर्व जांच किए बिना डॉ० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध अभियोजन प्रारंभ नहीं किया जाना चाहिए था। दलील यह दी गई थी कि सुविवेक और औचित्य दोनों की ही यह अपेक्षा है कि अभियोजन के प्रारंभ किए जाने से पूर्व जांच आयोग बैठाया जाना चाहिए क्योंकि जांच आयोग के माध्यम से की गई कोई जांच राजनीतिक रूप से अभिप्रेरित अथवा कपटपूर्ण अभियोजन के लिए एक शोधनकारी तत्व का कार्य करेगी। हमारी राय में इस दलील में भी कोई बल नहीं है और इसे कायम नहीं रखा जा सकता। यह बात निस्संदेह सच है कि विगत में ऐसे मामले रहे हैं जहां कि उत्तरवर्ती सरकार ने कोई जांच आयोग बैठाया है जो पूर्व मुख्यमंत्री और ऐसे अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों के आचरण के बारे में जांच करे जो पूर्व मुख्यमंत्री के शासनकाल के दौरान प्रशासन से संबद्ध रहे हों किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्व मुख्यमंत्री अथवा किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, जो उसके आचरण के बारे में जांच करने के लिए जांच आयोग के पहले बैठाए बिना पूर्ववर्ती शासन के अधीन उच्च राजनीतिक पद धारण करता था, अभियोजन प्रारंभ न किया जाए। विधि का कोई ऐसा उपबंध नहीं है जिसमें ऐसी कार्य प्रणाली को अपनाए जाने की अपेक्षा की गई हो और यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कोई अभियोजन उस उद्देश्य के लिए बैठाए गए जांच आयोग द्वारा की गई किसी जांच के बिना प्रारंभ किया गया है तो ऐसा अभियोजन अविधिमान्य होगा अथवा केवल उस आधार पर अभियोजन को वापस लिए जाने के लिए इजाज़त दे दी जाएगी। भारत में दांडिक प्रक्रिया बहुत अधिक धीमी तथा मंदगति से चलने वाली है और चूंकि यह ऐसी है तो इससे अंततोगत्वा अभियोजन के समाप्त होने के लिए पर्याप्त समय लग जाता है और यदि यह अपेक्षा विशेष रूप से अधिरोपित की जाती है कि किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध अभियोजन प्रारंभ नहीं किया जाएगा जो किसी जांच आयोग के बैठाए बिना पूर्ववर्ती शासन के अधीन उच्च राजनीतिक पद धारण करता हो और आयोग प्रथम दृष्टया इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि ऐसे व्यक्ति ने ऐसे कार्य किए हैं जिनसे अपराध गठित होते हैं तो समस्त दांडिक प्रक्रिया एक मज़ाक बन कर रह जाएगी क्योंकि स्वयं जांच आयोग ही सालों तक चल सकता है और जब जांच समाप्त हो जाती है तो अभियोजन प्रारंभ किया जाएगा तो ऐसी स्थिति में समस्त साक्ष्य पुनः इकट्ठा करना पड़ेगा और यह प्रतिपरीक्षा के अध्यधीन होगा जिसके पश्चात् विस्तारपूर्वक तर्क दिए जाएंगे। हमारी राय में उत्तरवर्ती सरकार के लिए यह बात पूर्ण रूप से विधिपूर्ण होगी कि वह पूर्व मुख्यमंत्री अथवा ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जो जांच आयोग के द्वारा पहले से ही की गई जांच के बिना, पूर्ववर्ती शासन के अधीन उच्च राजनीतिक पद धारण करता है, अभियोजन प्रारंभ करे परंतु वास्तव में अन्वेषण पक्षपातरहित और वस्तुनिष्ठ हो और ऐसा अभियोजन प्रारंभ करने के लिए पर्याप्त सामग्री होनी चाहिए। विद्यमान विधि के अधीन इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि किसी भी लोक सेवक को मिथ्या अथवा तंग करने वाले अभियोजन अथवा भ्रष्ट आचरण के आरोपों के आधार पर तंग नहीं किया जाएगा, पर्याप्त रक्षोपाय विद्यमान हैं क्योंकि कोई भी ऐसा अभियोजन भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 6 अथवा दंड

प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197 के अधीन मंजूरी के बिना प्रारंभ नहीं किया जाएगा। इन रक्षोपायों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यदि उनसे किसी विशेष मामले में संरक्षण प्राप्त नहीं होता है तो वे अपर्याप्त हैं क्योंकि किसी निर्दोष अभियुक्त के संरक्षण करने के लिए मजिस्ट्रेट हमेशा ही होता है क्योंकि यदि मजिस्ट्रेट की राय में अभियुक्त के विरुद्ध पर्याप्त साक्ष्य नहीं हैं और उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि वह निराधार है तो मजिस्ट्रेट तुरंत ही किसी साक्ष्य के लिए बिना अभियुक्त को उन्मोचित कर सकता है। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के इन शब्दों का प्रयोग करते हुए कि "भारतीय जनता के उच्च स्तर के निवासियों तथा राजनीतिक कर्णधारों" को दांडिक विधि के जाल में लाना बहुत कठिन या लगभग असंभव हो जाएगा यदि कोई ऐसी अतिरिक्त अपेक्षा अधिरोपित कर दी जाती है कि उनके विरुद्ध किसी अभियोजन के प्रारंभ करने से पहले जांच आयोग द्वारा कोई पूर्व जांच की जानी चाहिए। डॉ० जगन्नाथ मिश्र की ओर से जोर देकर दी गई यह दलील भी अवश्य ही असफल होनी चाहिए।

19. अब हम उस प्रश्न के गुणागुण पर विचार करते हैं जिसके विषय में हमारे समक्ष बहस की गई है अर्थात् क्या डॉ० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन के वापस लिए जाने के बारे से विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट तथा उच्च न्यायालय ने अपनी सम्मति देकर ठीक कार्य किया था। वापस लेने के लिए आवेदन श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा द्वारा किया गया था और इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए सम्मति दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अधीन विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दी गई थी और परिणामस्वरूप यही वह धारा है जिस पर कि प्रस्तुत मामले में उसका अर्थान्वयन तथा लागू होने के बारे में विचार किया जाना है। प्रश्न यह है कि क्या श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा द्वारा वापस लिए जाने के लिए किया गया आवेदन धारा 321 के अधीन उसकी शक्ति के भीतर था और क्या इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दी गई सम्मति उस धारा की शर्तों के अंतर्गत थी। धारा 321 का पाठ निम्न प्रकार है—

> "321. अभियोजन वापस लेना : किसी मामले का भारसाधक कोई लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक निर्णय सुनाए जाने के पूर्व किसी समय किसी व्यक्ति के अभियोजन को या तो साधारणतः या उन अपराधों में से किसी एक या अधिक के बारे में, जिनके लिए उस व्यक्ति का विचारण किया जा रहा है, न्यायालय की सम्मति से वापस ले सकता है और ऐसे वापस लिए जाने पर—
>
> (क) यदि यह आरोप विरचित किए जाने के पहले किया जाता है तो अभियुक्त ऐसे अपराध या अपराधों के बारे में उन्मोचित कर दिया जाएगा;
>
> (ख) यदि वह आरोप विरचित किए जाने के पश्चात् या जब इस संहिता द्वारा कोई आरोप अपेक्षित नहीं है, तब किया जाता है तो वह ऐसे अपराध या अपराधों के बारे में दोषमुक्त कर दिया जाएगा; परंतु जहां—

(i) ऐसा अपराध किसी ऐसी बात से संबंधित किसी विधि के विरुद्ध है जिस पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, अथवा

(ii) ऐसे अपराध का अन्वेषण दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 के अधीन दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन द्वारा किया गया है, अथवा

(iii) ऐसे अपराध में केंद्रीय सरकार की किसी सम्पत्ति का दुर्विनियोग, नाश या नुकसान अंतर्ग्रस्त है, अथवा

(iv) ऐसा अपराध केंद्रीय सरकार की सेवा में किसी व्यक्ति द्वारा किया गया है, जब वह अपने पदीय कर्त्तव्यों के निर्वहन में कार्य कर रहा है या कार्य करना तात्पर्यित है।

और मामले का भारसाधक अभियोजक केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त नहीं किया गया है, तो वह जब तक केंद्रीय सरकार द्वारा उसे ऐसा करने की अनुज्ञा नहीं दी जाती है, अभियोजन को वापस लेने के लिए न्यायालय से उसकी सम्मति के लिए निवेदन नहीं करेगा तथा न्यायालय अपनी सम्मति देने के पूर्व, अभियोजक को यह निदेश देगा कि वह अभियोजन को वापस लेने के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा दी गई अनुज्ञा उसके समक्ष पेश करे।"

यह धारा पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 494 की तत्स्थानी है और इसमें कतिपय ऐसे परिवर्तन किए गए हैं जो इस दृष्टिकोण से सुसंगत हैं कि जो इस धारा के सही निर्वचन के बारे में मार्गदर्शन करते हैं। इस बात पर ध्यान देना होगा कि धारा 321 के दो भाग हैं। प्रथम यह है कि किसी मामले का भारसाधक कोई लोक अभियोजक अथवा सहायक लोक अभियोजक किसी व्यक्ति के बारे में अभियोजन को वापस ले सकता है। किंतु अभियोजन से वापस लिए जाने की यह शक्ति एक निरकुंश अथवा असीमित शक्ति नहीं है क्योंकि इसका प्रयोग केवल "न्यायालय की सम्मति से" किया जा सकता है। यदि न्यायालय अभियोजन के वापस लिए जाने के बारे में अपनी सम्मति नहीं देता है तो लोक अभियोजक अथवा सहायक लोक अभियोजक उसे वापस नहीं ले सकता। किंतु प्रश्न यह है कि ऐसे कौन से आधार हैं जिन्हें दर्शित करके वह अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए आवेदन कर सकता है और उसी प्रकार से वे कौन-सी बातें हैं जिन पर अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए सम्मति देने अथवा इनकार करने में न्यायालय को अवश्य ही विचार करना होता है। इन दोनों मुद्दों पर इस न्यायालय के कुछ विनिश्चय हैं किंतु यह बात तुरंत ही स्वीकार कर लेनी चाहिए कि इन विनिश्चयों में एक समान दृष्टिकोण अपनाया गया प्रकट नहीं होता। कुछ विनिश्चयों में न्यायालय ने बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। जबकि कुछ अन्य मामलों में उसने अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया है। न्यायालय का दृष्टिकोण संकीर्ण आधार अपनाने से समय-समय पर विभिन्न विनिश्चयों में विशाल दृष्टिकोण अपनाने की ओर रहा है। हम इनमें से कुछ विनिश्चयों पर बाद में विचार करेंगे।

20. अब एक बात यह निश्चित है कि लोक अभियोजक को—जब हम लोक अभियोजक के प्रति निर्देश करते हैं तो इसमें सहायक लोक अभियोजक भी सम्मिलत है—अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन करने हेतु निरंकुश अथवा असीमित शक्तियां नहीं दी गई हैं। यह बात स्पष्ट है कि अभियोजन को वापस लेने के लिए लोक अभियोजक को दी गई शक्ति अवश्य ही नियंत्रित और मार्गदर्शन करने वाली होनी चाहिए नहीं तो यह संविधान के अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगी। इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के कतिपय अन्य उपबंधों के प्रति निर्देश किया जाए। यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से सुसंगत नहीं हैं तो भी इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कि अभियोजन को वापस लेने के लिए लोक अभियोजक की शक्ति की क्या सीमा है, और यह कैसे नियंत्रित और विनियमित की जाती है, कुछ मार्गदर्शन प्राप्त होता है। धारा 154 मजिस्ट्रेट के किसी आदेश द्वारा, जिसने पुलिस को धारा 155 के अधीन किसी असंज्ञेय अपराध का अन्वेषण करने के लिए निदेशित किया है जब किसी संज्ञेय अपराध के बारे में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई जाती है, पुलिस उस अपराध के बारे में जिसके किए जाने का अभिकथन किया गया है, अन्वेषण करने के लिए बाध्य है। अन्वेषण करने के मामले में पुलिस की शक्ति और ऐसे अन्वेषण के बारे में उनके द्वारा अनुसरण किए जाने की प्रक्रिया धारा 157 से 172 में दी गई है। धारा 173 की उपधारा (1) के द्वारा पुलिस पर यह बाध्यता अधिरोपित की गई है कि अनावश्यक विलंब के बिना अन्वेषण को पूरा करे और धारा 173 की उपधारा (2) में आगे यह कथित किया गया है कि ज्यों ही अन्वेषण पूरा हो जाए तो पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी पुलिस की रिपोर्ट के आधार पर अपराध का संज्ञान करने के लिए सशक्त मजिस्ट्रेट को विहित प्ररूप में उस उपधारा में वर्णित विभिन्न प्रविष्टियों का कथन करते हुए एक रिपोर्ट भेजे। धारा 190 मजिस्ट्रेट को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह किसी अपराध का संज्ञान करे और ऐसे तीन अलग-अलग तरीके हैं जिनमें मजिस्ट्रेट द्वारा किसी अपराध का संज्ञान किया जा सकता है। इस धारा में यह कथन किया गया है कि किसी अपराध का संज्ञान—(क) उन तथ्यों का, जिनसे ऐसा अपराध बनता है, परिवाद प्राप्त होने पर, (ख) ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस रिपोर्ट पर, (ग) पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इस इत्तिला पर या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है, किया जा सकता है। हमें अपना ध्यान खंड (ख) पर केंद्रित करना होगा क्योंकि इस धारा में उस खंड के साथ पठित स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि अभियोजन के प्रारंभ किए जाने के मामले में भी पुलिस को निरंकुश विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है। इस न्यायालय के बहुत से विनिश्चयों के परिणामस्वरूप, जिनमें से हम केवल एक का उल्लेख करते हैं, अर्थात् **एच० एस० बेंस** बनाम **राज्य**[1], अब यह बात सुनिश्चित है कि धारा 173 के अधीन पुलिस द्वारा मजिस्ट्रेट को रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने पर भी यदि यह कथन किया गया है कि पुलिस की राय में कोई अपराध किया गया प्रतीत नहीं होता और इसलिए अभियोजन को प्रारंभ नहीं किया जा सकता तो भी मजिस्ट्रेट रिपोर्ट में दिए गए तथ्यों के आधार पर अपनी यह राय बना सकता है कि उन तथ्यों से किसी अपराध का गठन होता है और वह अपराध का संज्ञान कर सकता है और अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका जारी कर सकता है। मजिस्ट्रेट रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष भी निकाल सकता है कि अन्वेषण असंतोषजनक अथवा

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 1242=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1883.

अधूरा है अथवा इस बात की गुंजाइश है कि आगे अन्वेषण किया जाए और ऐसी स्थिति में मजिस्ट्रेट रिपोर्ट को स्वीकार करने से मना कर सकता है और पुलिस को यह निदेश दे सकता है कि पुन: अन्वेषण किया जाए और इसके बाद यह विनिश्चित कर सकता है कि पुन: ऐसा अन्वेषण किए जाने के परिणामस्वरूप पुलिस द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् अपराध का संज्ञान किया जाए अथवा नहीं। इस प्रकार इस ओर ध्यान देना होगा कि किसी अभियुक्त को अभियोजित करने अथवा न करने के लिए पुलिस को आत्यंतिक अथवा निरंकुश शक्ति प्राप्त नहीं है। वास्तव में हमारी संवैधानिक स्कीम में ऐसा आत्यंतिक अथवा असीमित विवेकाधिकार प्रदान किए जाने से संविधान के समता खंड का उल्लंघन होगा। इसलिए मजिस्ट्रेट को पुलिस के विवेकाधिकार के प्रयोग के तरीके और उसे नियंत्रित करने की शक्ति दी गई है। यदि मजिस्ट्रेट चाहे तो प्रारंभिक अन्वेषण अथवा मजिस्ट्रेट द्वारा निदेशित पुन: अन्वेषण किए जाने पर पुलिस द्वारा दी गई रिपोर्ट से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि किसी अपराध के बारे में यह प्रतीत होता है कि प्रथम दृष्टया वह किया गया है, तो मजिस्ट्रेट इस बात के होते हुए भी अपराध का संज्ञान कर सकता है कि पुलिस की राय उनसे भिन्न है और समान रूप से यदि मजिस्ट्रेट रिपोर्ट में दिए गए तथ्यों के आधार पर अपनी यह राय बनाता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम दृष्टया कोई अपराध नहीं किया गया है, यद्यपि पुलिस का निष्कर्ष उसके विरुद्ध है, तो भी मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान करने से इनकार कर सकता है। इस प्रकार अभियोजित करने के लिए पुलिस का विवेकाधिकार सीमित और नियंत्रित है और वह अपील अथवा पुनरीक्षण के अध्यधीन है और मजिस्ट्रेट इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए अंतिम निर्णयकर्ता बनाया गया है। विधानमंडल ने अपनी बुद्धिमत्ता से यह दृष्टिकोण अपनाया है कि पुलिस को, जो कि सरकार का एक कार्यपालक अंग है, अभियोजित करने के लिए आत्यंतिक विवेकाधिकार न दिया जाए किंतु इसे राज्य के न्यायिक अंग के नियंत्रण के अध्यधीन रखा जाए।

21. विधानमंडल द्वारा अभियोजन के वापस लिए जाने के लिए लोक अभियोजक को शक्ति प्रदान करते हुए भी इस स्कीम का अनुसरण किया गया है। इस शक्ति का प्रयोग केवल न्यायालय की सम्मति से किया जा सकता ताकि न्यायालय यह सुनिश्चित कर सके कि इस शक्ति का दुरुपयोग अथवा उसका गलत तरीके से प्रयोग नहीं किया गया है अथवा मनमाने या मनमौजी तरीके से प्रयोग नहीं किया गया है। जब एक बार आरोप-पत्र फाइल कर दिया जाता है और अभियोजन प्रारंभ कर दिया जाता है तो अभियोजन से वापस लेने की बात राज्य अथवा लोक अभियोजक की मन-मर्जी पर नहीं छोड़ दी जाती। न्यायालय को अभियोजन पर नियंत्रण करने की शक्ति सौंपी गई है, जैसा कि **सुभाषचन्द्र बनाम राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर द्वारा निम्नलिखित रूप में इंगित किया गया है—

> "दांडिक न्याय के अविरत अनुक्रम में कार्यपालिका द्वारा बाधा नहीं डाली जा सकती है, चाहे अभियुक्त कितना ही बड़ा क्यों न हो, सरकार कितना ही यह क्यों न समझे कि मामला मिथ्या है, उच्च पदाधिकारियों को, जो कि अभिमान, स्नेह या किन्हीं अन्य उदात्त अथवा अनुदात्त कारणों से न्याय से बचना चाहते हैं, अभियोजन का जारी रखा जाना कितना ही अरुचिकर क्यों न प्रतीत हो।"

---

[1] [1980] 4 उम० नि० प० 307=[1980] 2 एस० सी० आर० 44.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

एक बार जब अभियोजन प्रारंभ कर दिया जाता है तो इसके सतत् अनुक्रम को लोक न्याय से संबद्ध साधार कारणों के अलावा रोका नहीं जा सकता। पुनः एक मामले में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के इन शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है—"न्यायालय स्वामी होता है न कि सेवक और उसे यह देखने की सावधानी बरतनी होगी कि क्या विधि के अनिवार्य सिद्धांतों का उल्लंघन हो रहा है और वस्तुतः लोक अभियोजक की शक्ति को कम किए बिना या उसमें हस्तक्षेप किए बिना ही उसे ऐसा करना होगा।" इसलिए लोक अभियोजक तब तक अभियोजन को वापस नहीं ले सकता जब तक कि वह न्यायालय, जिसके समक्ष अभियोजन लंबित है, इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए अपनी सम्मति नहीं दे देता। यह उपबंध इसलिए बनाया गया है कि यह बात सुनिश्चित कर ली जाए कि लोक अभियोजक की ओर से मनमानी बात नहीं की गई है और संविधान के समता खंड का पालन किया गया है।

22. इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि अभियोजन से वापस लेने में लोक अभियोजक द्वारा शक्ति के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध एक अन्य रक्षोपाय विधि द्वारा सुनिश्चित किया गया है और वह रक्षोपाय यह है कि लोक अभियोजक ऐसे विधिक कारणों के कुछ आधारों पर भी वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है जो लोक न्याय से संबद्ध अथवा सुसंगत हों। इस ओर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि प्रशासनिक विधि का समूचा विकास राज्य और इसके अधिकारियों को प्रदान किए गए विवेकाधिकार को नियंत्रित तथा सुनिश्चित करने वाले विनिश्चयों की सतत् श्रृंखला के द्वारा विशेषित है। विधि द्वारा सदैव ही राज्य के किसी परिकरण को प्रदान किए गए अन्यायोचित और निरंकुश विवेकाधिकार को अस्वीकार किया गया है और प्रशासनिक विधि की यह विशेषता रही है कि ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग सुनियोजित और विनियमित न्यायिक विनिश्चयों के माध्यम से किया जाए। इसलिए इस न्यायालय ने विभिन्न मामलों में व्यक्त की गई अलग-अलग राय के बावजूद भी, मुख्य सिद्धांत अधिकथित किया है और सतत् रूप से उस पर आचरण किया है अर्थात् यह अभियोजन से वापस लेने के लिए शक्ति का प्रयोग न्याय को बढ़ावा देने के लिए ही किया जा सकता है। इस न्यायालय द्वारा **एम० एन० शकर नारायणन् नायर** बनाम **पी० वी० बालकृष्णन् और अन्य**[1] वाले मामले में यह इंगित किया गया कि—"वह आवश्यक कारण जो कि इस शक्ति को प्रदान करने में विवक्षित है वह यह है कि वह न्याय-प्रशासन के हित में होनी चाहिए"। इसी प्रकार से हममें से एक (न्यायमूर्ति भगवती जैसा कि वह उस समय थे) ने **उड़ीसा राज्य** बनाम **चंद्रिका महापात्र और अन्य**[2] वाले मामले में यह कहा था कि—"वह अंतिम मार्गदर्शक कारण सदैव ही न्याय-प्रशासन के हित में होना चाहिए"। यह वह मुख्य सिद्धांत है जिसके अधीन लोक अभियोजक को अभियोजन से वापस लेने के लिए उसके आवेदन को न्यायोचित ठहराने के लिए उसके मामले को अवश्य सुनिश्चित किया जाना चाहिए। वे कौन-से विभिन्न आधार हैं, जो कि संभवतः इस सिद्धांत के क्षेत्र में आने चाहिए, यह एक ऐसा मामला है जिसकी हम अभी चर्चा करेंगे किंतु वे आधार कुछ भी हों जिन पर कि आवेदन किया गया है, उन्हें केवल तभी कायम रखा जा सकता है जबकि वे आधार लोक न्याय को बढ़ावा देने से संबद्ध हों।

---

[1] [1972] 2 उम० नि० प० 37=[1972] 2 एस० सी० आर० 599=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 496.

[2] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335.

23. अभियोजन से वापस लेने के लिए किसी आवेदन के संबंध में लोक अभियोजक की स्थिति के बारे में एक मुख्य प्रश्न पर हमारे समक्ष चर्चा की गई थी और वह विवाद्यक यह था कि लोक अभियोजक को दी गई स्वतंत्रता की सीमा सरकार के मुकाबले में उस समय क्या होगी जब कि वापस लेने के लिए आवेदन कर रहा हो। इस विवाद्यक को तीन विभिन्न प्रश्नों में विभाजित किया जा सकता है—(1) क्या धारा 321 वापस लेने के लिए, सरकार की राय प्राप्त किए बिना, किसी लोक अभियोजक को किसी मामले से वापस लेने के लिए अनुज्ञात करती है ? (2) क्या धारा 321 लोक अभियोजक को इनकार करने के लिए सशक्त करती है ? और (3) जहां कोई लोक अभियोजक सरकार की सलाह और निदेश के आधार पर अभियोजन को वापस ले लेता है तो क्या वह धारा 321 की अपेक्षाओं के विरुद्ध कार्य करता है ? इन प्रश्नों से बहुत ही कठिनाई उत्पन्न हुई है और दुर्भाग्यवश, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, इस न्यायालय के विनिश्चय इन प्रश्नों का उत्तर देने के मामले में एक रूप नहीं रहे हैं। हम इन विनिश्चयों में से कुछ के प्रति निर्देश करेंगे। **बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडे**[1] वाले मामले में, जोकि धारा 321 के अर्थान्वयन और लागू होने के बारे में एक महत्वपूर्ण मामला है, इस न्यायालय ने, जबकि वह लोक अभियोजक के योगदान के बारे में विचार कर रहा था, निम्न प्रकार कहा—

> "………यह स्मरण रखना ठीक ही है कि लोक अभियोजक [यद्यपि वह एक कार्यपालक अधिकारी है जैसा कि बावा फकीर सिंह बनाम किंग एम्परर, (1938) एल० आर० 65 आई०ए० 388, 395 वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा अधिकथित किया गया है] सामान्य रूप से न्यायालय का ही एक अधिकारी है और वह अपने सुविचारित दृष्टिकोण के द्वारा न्यायालय की सहायता करने के लिए आबद्ध है और न्यायालय उसके कृत्यों के उचित प्रयोग का लाभ प्राप्त करने के लिए हकदार है। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि हमारे देश में दांडिक न्याय के प्रशासन की स्कीम यह है कि गंभीर अपराधों (जिन्हें संज्ञेय अपराध के रूप में वर्गीकृत किया गया है) का अभियोजन करने का उत्तरदायित्व कार्यपालक प्राधिकारियों पर है। जब एक बार ऐसी कोई अपराध किए जाने की सूचना गठित किए गए किन्हीं प्राधिकारियों के पास पहुंचती है तो अपेक्षित साक्ष्य को एकत्रित करने सहित अन्वेषण, और ऐसे साक्ष्य के संदर्भ में उस अपराध का अभियोजन कार्यपालिका के कृत्य माने जाते हैं। किंतु मजिस्ट्रेट को, इन प्रक्रमों के अनुक्रम में उसे दिए गए कृत्य भी, प्राप्त हैं।………इन सभी मामलों में वह वैवेकिक कृत्यों का प्रयोग करता है जिनके बारे में प्रारंभ करने का कार्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है किंतु उत्तरदायित्व उसी का होता है।"

इन मताभिव्यक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी अपराध के लिए अभियोजन करना न्यायपालिका का कृत्य है और यह कि लोक अभियोजक वास्तव में एक कार्यपालिका अधिकारी होता है जो अभियोजन का संचालन राज्य की ओर से कर रहा होता है। इसी प्रकार से **एम० एन० शंकरनारायणन् नायर** बनाम **पी०वी० बालकृष्णन्**[2] वाले मामले

[1] [1957] एस० सी० आर० 279.

[2] [1972] 2 उम० नि० प० 37=[1972] 2 एस० सी० आर० 599=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 496.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

में भी हमें यह ज्ञात होता है कि उसमें एक पैरा है जिससे विवक्षित रूप से यह प्रतीत होता है कि अभियोजन से वापस लेने के मामले में सरकार के निदेश को वैध रूप में स्वीकार कर लिया गया है और वह पैरा निम्न प्रकार है—

> "बाद में बहस के दौरान अपीलार्थी के अधिवक्ता ने यह स्वीकार किया कि उसके द्वारा दी गई दलीलों में से प्रथम दलील में अर्थात् इस दलील में कि न तो सरकार लोक अभियोजक से यह कह सकती है कि धारा 494 के अधीन पिटीशन फाइल करने की बात पर विचार करे और न ही उसके लिए यह उचित होगा यदि उसकी राय यह हो कि अभियोजन पक्ष को चाहिए कि वह अभियोजन कार्यवाहियां वापस करने के लिए न्यायालय की अनुज्ञा प्राप्त करने संबंधी उस धारा के अधीन पिटीशन फाइल करने के विषय में सरकार की सम्मति प्राप्त करने के लिए कार्यवाही न करे।"

उड़ीसा राज्य बनाम **सी० महापात्रा**[1] वाले मामले में भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस न्यायालय ने यह बात स्वीकार कर ली थी कि अभियोजन से वापस लेने के लिए नीति विषयक विनिश्चय राज्य द्वारा ही किया जा सकता है, हालांकि वापस लेने के लिए आवेदन लोक अभियोजक द्वारा किया जाता है। उस मामले में इस न्यायालय ने यही बात निम्न प्रकार कही है—

> "हम यह नहीं भूल सकते हैं कि अंततः प्रत्येक अपराध के पीछे सामाजिक या आर्थिक कारण होता है और यदि राज्य यह महसूस करता है कि अभियोजन की कार्यवाही न करने से अपराध के सामाजिक या आर्थिक कारण नहीं रहेंगे या दूर हो जाएंगे या अधिक अच्छी तरह से समाप्त हो जायेंगे तो राज्य को अभियोजन की कार्यवाही वापस करने के लिए स्पष्ट रूप से स्वतंत्र होना चाहिए।"

जहां तक विनिश्चित मामलों का संबंध है ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थिति 1978 तक बनी रही।

24. किंतु **बलवंत सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में उस समय स्थिति में परिवर्तन आ गया जबकि इस मत के पक्ष में दृष्टिकोण अपनाया गया था कि लोक अभियोजक ही अभियोजन से वापस लेने के प्रश्न पर विनिश्चय करने वाला पहला प्राधिकारी है। इस मामले में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

> "वापस लेने का विनिश्चय करने के लिए कानूनी दायित्व लोक अभियोजक में निहित होता है। इसमें सुलह नहीं की जाती और इसको उन लोगों के पक्ष में बदला नहीं जा सकता जो प्रशासन पक्ष में उससे ऊपर हों। दंड प्रक्रिया संहिता लोक अभियोजक का एकमात्र पथ प्रदर्शक है और उसे दंड प्रक्रिया संहिता के निर्देश में ही अपना मार्ग दर्शन करना होता है।.........यहां पर लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने के लिए समावेदन करने का आदेश दिया गया है। जिला मजिस्ट्रेट के लिए ऐसा करना ठीक नहीं है। वास्तव में लोक अभियोजक को इसके

---

[1] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335.

[2] [1978] 4 उम० नि० प० 244=[1978] 1 एस० सी० आर० 604.

बारे में आदेश देना ठीक नहीं है। यह पूर्णत: लोक अभियोजक के विवेकाधिकार के अधीन है। जिला मजिस्ट्रेट को लोक अभियोजक के ध्यान में सामग्री लाने और उसे इस बात का सुझाव देने की छूट है कि क्या अभियोजन को वापस ले लिया जाए या नहीं। जहां पर वह केवल सिफारिश कर सकता है वहां आदेश नहीं दे सकता।"

इस विनिश्चय से लोक अभियोजक को प्रथम बार, जहां तक अभियोजन से वापस लेने का संबंध है, स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि लोक अभियोजक को अवश्य ही इस ओर स्वयं ध्यान देना चाहिए और इस विषय में अपना यह विनिश्चय करना चाहिए कि क्या कार्यपालिका की राय अथवा सलाह के बावजूद भी उसे वापस लेने के लिए आवेदन करना चाहिए अथवा नहीं।

25. इसी प्रकार का दृष्टिकोण **सुभाष चंद्र** बनाम **राज्य**[1] वाले मामले में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर द्वारा दोहराया गया जिसमें कि विद्वान् न्यायमूर्ति ने निम्न प्रकार कहा—

"अभियोजन से मामला वापस लेने की शक्ति संहिता द्वारा जिस कृत्यकारी को दी गई है वह लोक अभियोजक है। लोक अभियोजक कार्यपालक नहीं है न ही वह राजनैतिक सत्ता का चाटुकार होता है। कानून द्वारा किसी मामले को वापस लेने या न लेने का विवेकाधिकार उसमें निहित किया गया है इसलिए उसे स्वतंत्र रूप से विचार करना होता है और अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना होता है। ऐसा करने में वह न्यायिक प्रक्रिया के एक अंग के रूप में कार्य करता है न कि कार्यपालिका के अंग के रूप में।"

विद्वान् न्यायमूर्ति ने अपने समक्ष वाले मामले में अभियोजन से वापस लेने के लिए जिला मजिस्ट्रेट द्वारा लोक अभियोजक को निदेश दिए जाने के कार्य को बलपूर्वक अस्वीकार कर दिया था और बिना किसी संदेह के इस बात को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित शब्दों में मत व्यक्त किया—

"हमारी पद्धति में घुटना-टेक सिद्धांत का कोई स्थान नहीं है और विधि प्रत्येक शक्ति रखने वाले व्यक्ति से यह प्रत्याशा करती है कि वह किन्हीं समादेशों, निदेशों, धमकियों या प्रलोभनों को ध्यान में रखे बिना संविधान और विधियों के अनुसार अपने कर्तव्य का अनुपालन करेगा। संहिता दांडिक प्रक्रिया को नियंत्रित करती है। कोई भी प्राधिकारी जो लोक अभियोजक जैसे कृत्यकारी को उसके विवेकाधिकार के अनन्य क्षेत्र में प्रपीड़ित करता है या आदेश देता है या उस पर दबाव डालता है वह विधि के नियम का उल्लंघन करता है तथा कोई भी लोक अभियोजक जो ऐसे समादेश के समक्ष झुक जाता है वह अपने पद के प्राधिकार के साथ धोखा करता है। हो सकता है कि सरकार या जिला मजिस्ट्रेट इस बात पर विचार करे कि किसी अभियोजन या अभियोजनों के वर्ग को विधि तथा न्याय के बृहत्तर अर्थ में सुसंगत लोक हित की नीति या कारणों के आधार पर वापस लिया जाना चाहिए और वह लोक अभियोजक से यह

---

[1] [1980] 4 उम० नि० प० 307=[1980] 2 एस० सी० आर० 44.

अनुरोध कर सकता है कि वह इस बात पर विचार करे कि क्या मामला वापस लिया जाना चाहिए या नहीं। इसके पश्चात् लोक अभियोजक प्रस्तुत की गई सामग्री, सिफारिश में अंतर्निहित नीति और सरकार की, जिसे कि अंतत: लोक व्यवस्था बनाए रखनी होती है और लोक न्याय का उन्नयन करना होता है उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति को सम्मक् महत्व देगा। किंतु यह आवश्यक है कि मामले को वापस लेने का विनिश्चय उसका ही होना चाहिए।"

इस मामले के द्वारा भी जैसा कि **बलवंत सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले पूर्ववर्ती मामले में, अभियोजन से वापस लेने के लिए प्रश्न पर लोक अभियोजक द्वारा स्वतंत्र रूप से विचार किए जाने की धारणा को लागू किया गया था और इस बात पर जोर दिया गया था कि अभियोजन से वापस लिए जाने के लिए लोक अभियोजक को निदेश दिया जा सकता अथवा उस पर दबाव नहीं डाला जा सकता और लोक अभियोजक को कार्यपालिका के आदेश के समक्ष झुके बिना अवश्व ही स्वयं विनिश्चय करना चाहिए। लोक अभियोजक के लिए स्वतंत्र रूप से विचार किए जाने की बात के इस भाग को सम्मिलित कर दिया गया था तो न्यायालय इस बात पर विचार करते हुए, कि क्या इस प्रकार वापस लिए जाने के लिए सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं, वापस लेने के समर्थन में प्रस्तुत किए गए आधारों की वैधता पर ही विचार में करने की अपेक्षा नहीं है किंतु इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि क्या मामले में लोक अभियोजक ने स्वयं विचार कर लिया है।

26. किंतु इस स्थिति में **राजेंद्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**[2] वाले विनिश्चय में फिर भी कुछ थोड़ा परिवर्तन आ गया था। इस मामले में न्यायालय ने कुछ अधिक ही मध्यम मार्ग को अपनाया और इस बात का उल्लेख करने के पश्चात् कि न्यायालय विधि के अनुसार सही स्थिति क्या मानता है, निम्नलिखित शब्दों में मत व्यक्त किया—

"लोक अभियोजक का यह कार्य होगा कि वह न्यायालय को यह सूचित करे और न्यायालय का यह भी कर्तव्य होगा कि वह स्वयं भी उन कारणों की जानकारी रखे जिनके आधार पर लोक अभियोजक अभियोजन वापस लेने की पहल करता है। दांडिक न्याय प्रशासन में न्यायालय का महान उत्तरदायित्व है <u>और इसी प्रकार लोक अभियोजक अभियोजन का "न्याय-मंत्री"</u> है। दोनों का ही यह कर्तव्य है कि वे कार्यपालिका द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के उपबंधों का सहारा लेकर दांडिक न्याय के विरुद्ध संभावित दुरुपयोग से प्रशासन की सुरक्षा करे।

(रेखांकित हमारे द्वारा किया गया)

न्यायालय ने इस बात को मान्यता प्रदान की कि दांडिक न्याय के प्रशासन में सरकार का योगदान होता है और निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

"कोई भी निर्वाचित सरकार जो जनता के मनोवेगों और संवेगों के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी है, वह यदि सद्भाव का वातावरण बनाने के लिए या लौटी हुई शांति को बनाए रखने के लिए अभियुक्तों पर अभियोजन न चलाने का

[1] [1978] 1 एस० सी० आर० 604.
[2] [1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982.

निश्चय करती है या पहले से चलाए गए अभियोजन को बंद करना चाहती है तो उसके लिए ऐसा करना सर्वथा न्यायोचित होगा। ऐसे मामलों को सरकार के सिवाय और कौन विनिश्चित कर सकता है और किसे इसका विनिश्चय करना चाहिए। प्रथम दृष्टया यह देखना होगा कि अभियोजन चलाना या अभियोजन जारी रखना कहां तक लाभप्रद होगा। यदि सरकार यह विनिश्चय करती है कि अभियोजन वापस लेना लोक हित में होगा तो सरकार यह काम (अभियोजन) कैसे कराएगी।"

(अधोरेखांकित पर जोर दिया गया)

न्यायालय ने आगे यह कहा कि अभियोजन के वापस लेने के लिए आवेदन करने में लोक अभियोजक सरकार की सलाह के आधार पर कार्य कर सकता है "जबकि लोक नीति संबंधी बड़ा और संवेदनशील विवाद्यक अंतर्ग्रस्त हो।" न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति चिन्नप्पा रेड्डी ने इस दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में विस्तारपूर्वक कहा—

"जहां लोक नीति संबंधी बड़ा और संवेदनशील विवाद्यक अंतर्ग्रस्त हो वहां यदि वह सुलझे हुये मस्तिष्क का है तो उसे नीति निर्धारकों से उनकी सलाह और मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। नीति निर्धारकों के मुकाबले जानकारी प्राप्त करने के उसके स्रोत और साधन बहुत सीमित हैं। जहां महत्वपूर्ण लोक नीति का विषय अंतर्ग्रस्त हो, वहां यदि नीति निर्धारक ही इस मामले में पहले करते हैं और यदि वे लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने की सलाह देते हैं तो न्यायालय को यह कहने का अधिकार नहीं है कि चूंकि पहल सरकार की ओर से की गई है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि लोक अभियोजक ने स्वतंत्र मस्तिष्क से काम लिया है।"

(रेखांकित हमारे द्वारा किया गया)

यद्यपि प्रस्तुत अपील में न्यायाधीशों के बहुमत ने उस समय भिन्न मत अपनाया था जब कि उसकी सुनवाई पूर्ववर्ती न्यायपीठ द्वारा की गई थी। न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम ने बहुमत के दृष्टिकोण का कथन निम्नलिखित शब्दों में किया—

"न्यायाधीशों की तरह लोक अभियोजक अपने आप में पूर्ण रूप से स्वतंत्र अधिकारी नहीं है। वह केंद्र या राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया अधिकारी होता है। (दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24 और 25 देखें) जिसे न्यायालय में संबद्ध सरकार की ओर से किसी अभियोजन अथवा कार्यवाही का संचालन करने के लिए नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार लोक अभियोजक और सरकार के बीच काउंसेल और मुवक्किल का संबंध होता है। लोक अभियोजक सरकार के अनुदेश के बिना कार्य नहीं कर सकता, लोक अभियोजक पूर्णत: अपने आप किसी मामले का संचालन नहीं कर सकता और न ही वह अपने मुवक्किल अर्थात् सरकार के अनुदेश के विपरीत कार्य कर सकता है। ···संहिता की धारा 321 लोक अभियोजक पर सरकार से उस धारा के अधीन आवेदन फाइल करने से पूर्व अनुदेश प्राप्त करने पर रोक नहीं लगाती। यदि लोक अभियोजक ऐसे अनुदेश प्राप्त करता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी बाहरी प्रभाव में कार्य कर रहा है। इसके विपरीत लोक अभियोजक किसी मामले को वापस लेने के लिए सरकार से अनुदेश प्राप्त किए बिना

1986(12) eILR(PAT) SC 41

अपने आप मामला वापस लेने के लिए आवेदन नहीं कर सकता ।······हमारी राय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 का उद्देश्य कार्यपालक सरकार में लोक हित के व्यापक आधार पर दांडिक मामलों को वापस लेने के लिए अधिकार आरक्षित करना है। ये आधार हैं— राज्य द्वारा बताए गए कारणों से अभियोजन की असमीचीनता व्यापक लोकहित जैसे कि विधि और व्यवस्था का बनाए रखना, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक रूप से सार्वजनिक शांति और सद्भाव बनाए रखना, परवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति; और स्थिर सरकार को अस्थिर बनने से रोकना और इसी प्रकार के अन्य अपराध और हमारी राय में ऐसी शक्तियों को सरकार में आरक्षित रखना ठीक है, क्योंकि किसी राज्य में या देश में वर्तमान परिस्थितियों और स्थिति की जानकारी सरकार के सिवाय भला किसे हो सकती है। न्यायालय इन परिस्थितियों की जानकारी रखने की स्थिति में नहीं होता ।"

इस प्रकार इस ओर ध्यान देना होगा कि अभियोजन के वापस लेने के लिए आवेदन फाइल करने में सरकार के मुकाबले में लोक अभियोजक द्वारा किस सीमा तक स्वतंत्र रूप से विचार करने के संबंध में विधि की स्थिति कुछ भ्रामक है और यह समीचीन होगा कि प्रथम सिद्धांत के आधार पर इस प्रश्न पर विचार किया जाए।

27. इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि किसी ऐसे अपराधी का अभियोजन, जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि उसने कोई अपराध किया है, सबसे पहला उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है। कार्यपालिका में ही आरोप पत्र फाइल करने की तथा अभियोजन को प्रारंभ करने की शक्ति निहित होती है। कार्यपालिका को यह शक्ति इस दृष्टिकोण से प्रदान की गई है कि वह समाज की रक्षा कर सके कि अपराधी अपराध करके समाज की शान्ति और प्रशान्ति भंग करते हैं। वास्तव में इस बात का विनिश्चय करना न्यायालय का कार्य है कि आरोप पत्र में दिए गए अपराध का संज्ञान किया जाए अथवा नहीं किंतु आरोप पत्र फाइल करना तथा अभियोजन को प्रारंभ करना मात्र कार्यपालिका के उत्तरदायित्व के अधीन है। जब आरोप पत्र फाइल करके अभियोजन प्रारंभ किया जाता है तो तभी लोक अभियोजक कर कार्य प्रारंभ होता है। वास्तव में आरोप पत्र फाइल करने से पहले भी अन्वेषण करने वाले प्राधिकारी अभियुक्त के अभियोजन के बारे में लोक अभियोजक की राय प्राप्त कर सकते हैं किंतु ऐसा करना अन्वेषण प्राधिकारियों पर बाध्यकारी नहीं है। लोक अभियोजक का कार्य तभी प्रारंभ होता है जबकि आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है और वह अभियोजन की ओर से मामले के बारे में पेश होता है तथा बहस करता है। राज्य ही अन्वेषण प्रारंभ करता है और लोक अभियोजक राज्य की ओर से अभियोजन चलाने के लिए राज्य का आवश्यक रूप से परामर्शी होता है। "लोक अभियोजक" अभिव्यक्ति को धारा 2 के खंड (प) में परिभाषित किया गया है जिससे "धारा 24 के अधीन नियुक्त व्यक्ति अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत लोक अभियोजक के निदेशों के अधीन कार्य करने वाला व्यक्ति भी है। धारा 24 में लोक अभियोजक की नियुक्ति के लिए उपबंध किया गया है। धारा 24 की उपधारा (1) में यह कथित किया गया है कि "प्रत्येक उच्च न्यायालय के लिए केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार उस उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात् यथास्थिति, केंद्रीय या राज्य सरकार की ओर से उस न्यायालय में किसी अभियोजन, अपील या अन्य कार्यवाहियों

का संचालन करने के लिए एक लोक अभियोजक नियुक्त करेगी" (रेखांकित हमारे द्वारा)। धारा 24 की उपधारा (2) में यह अधिनियमित किया गया है कि प्रत्येक जिले के लिए राज्य सरकार एक लोक अभियोजक नियुक्त करेगी और जिले के लिए एक या अधिक अपर लोक अभियोजक भी नियुक्त कर सकती है और उस धारा की उपधारा (5) के अधीन कोई व्यक्ति लोक अभियोजक या अपर लोक अभियोजक नियुक्त किए जाने का पात्र तभी होगा जब वह कम से कम 7 वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय करता रहा हो। इस प्रकार राज्य सरकार की ओर से नियुक्त किया गया लोक अभियोजक राज्य सरकार की ओर से अभियोजन का संचालन करता है और केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक वह कार्य केंद्रीय सरकार की ओर से करता है। निस्संदेह यह बात सच है कि लोक अभियोजक न्यायालय का एक अधिकारी होता है और वास्तव में वह उसी प्रकार होता है जैसे कि कोई अधिवक्ता न्यायालय में विधि व्यवसाय करता है और न्यायालय के प्रति उस पर यह बाध्यता होती है कि वह स्पष्ट तथा ईमानदार हो। उसे अभियोजन के मामले में किसी व्यक्तिगत हित को आड़े नहीं आने देना चाहिए और न ही उसे इस बात के लिए उत्सुक होना चाहिए कि हर कीमत पर दोषसिद्धि की जाए। उसे अभियोजन की ओर से उचित तथा वस्तुनिष्ठ रूप से मामले को प्रस्तुत करना चाहिए और जैसा कि इस न्यायालय द्वारा **बिहार राज्य** बनाम **राम नरेश पांडे**[1] वाले मामले में इंगित किया गया है वह अपनी ऋजुतापूर्ण तथा सुविचारित दृष्टिकोण द्वारा न्यायालय की सहायता करने के लिए बाध्य होता है तथा अपने निर्णय का उचित रूप से प्रयोग करे। किंतु साथ ही इस बात का ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि वह यथास्थिति केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार की ओर से अभियोजन का संचालन करता है और वह केंद्रीय सरकार अथवा उस राज्य सरकार की ओर से अधिवक्ता के रूप में कार्य कर रहा होता है जिसने कि अभियोजन प्रारंभ किया है। इसलिए हमारा दृष्टिकोण यह है कि इस बात में कोई त्रुटि नहीं होगी यदि सरकार अभियोजन से वापस लेने का विनिश्चय करती है और लोक अभियोजक को इसी प्रकार का निदेश देती है। लोक अभियोजक को अन्य बातों के साथ-साथ उन आधारों पर विचार करना चाहिए जिनके कारण सरकार ने अभियोजन से वापस लेने का विनिश्चय किया है और यदि वह इस बात से संतुष्ट है कि वे आधार वैध हैं तो वह अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन फाइल कर सकता है। इसके विपरीत यदि उसका यह दृष्टिकोण है कि वे आधार जो कि सरकार द्वारा दिए गए हैं वैध नहीं हैं तो उसके पास दो ही विकल्प बच जाते हैं। सरकार को वह इस बात की सूचना दे सकता है कि उसकी राय में वे आधार जिनका कि सरकार द्वारा आश्रय लिया गया है विधिमान्य नहीं हैं और यह कि उसे उस मामले से मुक्त कर दिया जाना चाहिए और यदि उसका यह निवेदन स्वीकार नहीं किया जाता है तो वह अपना त्यागपत्र भेज सकता है। इसके अलावा या वह सरकार के द्वारा निदेशित किये अनुसार अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है और आवेदन की सुनवाई के समय वह अपना न्यायालय के समक्ष सुविचारित दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकता है कि उसके द्वारा दिए गए आधारों पर आवेदन को कायम नहीं रखा जा सकता और यह बात न्यायालय के ऊपर छोड़ सकता है कि वह आवेदन को अस्वीकार कर दे। हमारा यह विचार नहीं है कि अभियोजन से वापस लेने के

---

1 [1957] एस० सी० आर० 279.

लिए कोई आवेदन फाइल करने के लिए सरकार द्वारा लोक अभियोजक को सलाह देने में अथवा निदेश देने में कोई गलत बात है और ऐसे निदेश अथवा सलाह के अनुसरण में उसके द्वारा वापस लेने के लिए किया गया आवेदन आवश्यक रूप से निष्फल नहीं हो जाता। वास्तव में लोक अभियोजक इस विषय में अपना स्वतंत्र निर्णय ले सकता है कि अभियोजन को वापस ले लिया जाना चाहिए, किंतु साधारणतया यदि वह एक चतुर और सहज बुद्धि का व्यक्ति है तो वह सरकार से विचार-विमर्श किए बिना वापस लेने के लिए आवेदन नहीं करेगा। क्योंकि सरकार ही अभियोजन को प्रारंभ करती है और अभियुक्त का अभियोजन करती है। वास्तव में, सिद्धांत रूप से वह सरकार से परामर्श किए बिना अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है और ऐसा करने के लिए उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अवैध कार्य किया है और न्यायालय इस प्रकार वापस लेने के लिए अपनी सम्मति दे सकता है किंतु उस स्थिति में लोक अभियोजक को उस सरकार का कोपभाजन होने का जोखिम भी उठाना पड़ेगा जिसके द्वारा उसे नियुक्त किया गया है। यदि लोक अभियोजक अभियोजन से वापस लेने के लिए सरकार की अनुज्ञा प्राप्त करता है और सरकार उसे ऐसी अनुज्ञा प्रदान कर देती है और ऐसी अनुज्ञा के आधार पर वह वापस लेने के लिए आवेदन करता है तो उस आवेदन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निष्फल हो गया है। धारा 321 के परंतुक में वास्तव में कई प्रकार से यह अनुध्यात किया गया है कि अपराधों के कतिपय प्रवर्गों के बारे में ऐसा लोक अभियोजक जो कि राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है केंद्रीय सरकार की अनुज्ञा के बिना अभियोजन से वापस लेने के लिए न्यायालय से निवेदन नहीं कर सकता है। इस प्रक्रिया में निहित सरकार द्वारा शक्ति के दुरुपयोग अथवा गलत प्रयोग का कोई खतरा नहीं है क्योंकि सरकार के द्वारा शक्ति के ऐसे दुरुपयोग अथवा गलत प्रयोग के विरुद्ध दो मुख्य रक्षोपाय हैं—एक तो यह है कि आवेदन ऐसे आधारों पर किया जाना चाहिए जो कि लोक न्याय को बढ़ावा देने वाले हों और दूसरा यह है कि न्यायालय की सम्मति के बिना मामला वापस नहीं लिया जा सकता।

28. अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि वे कौन-से आधार हैं जिनके कारण लोक अभियोजक अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है। इन आधारों को इस न्यायालय के विनिश्चयों में बहुत बार अधिकथित किया गया है किंतु इन आधारों में जो मूल सिद्धांत है वह यह है कि वापस लेने की ईप्सा केवल लोक न्याय के हेतुक को बढ़ावा देने के लिए की जा सकती है। यदि हम उस बात को दोहरायें जो हमने पहले कही है तो सबसे बड़ा कारण न्याय प्रशासन का हित होना चाहिए। यह वह मूल कारण है जिसके आधार पर इस प्रश्न का विनिश्चय किया जाना चाहिए कि क्या अभियोजन से वापस लेने के लिए किसी आवेदन को कायम रखा जा सकता है। इस न्यायालय ने बहुत से उदाहरण बताने का प्रयत्न किया है जिनमें कि लोक न्याय को हेतुक की परिधि उस स्थिति में अच्छी तरह हो पायेगी जबकि अभियोजन से मामला वापस ले लिया जाए। **एम० एन० शंकरनारायण नायर** बनाम **पी० वी० बालकृष्णन और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया था कि अभियोजन से वापस लेने के लिए कोई आवेदन इस

---

[1] [1972] 2 उम० नि० प० 37=[1972] 2 एस० सी० आर० 599=(1972) ए० आई० आर० एस० सी० 496.

आधार पर किया जा सकता है कि "आरोप को साबित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य पेश करने में वह असमर्थ होगा या यह कि अभियोजन अभिकरण के समक्ष जो बाद में जानकारी प्राप्त होती है, उसके आधार पर अभियोजन द्वारा पेश किया गया साक्ष्य गलत साबित हो जाए या कोई अन्य ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिन्हें पहले से जान लेना कठिन है, क्योंकि वह हर एक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर होता है।" **उड़ीसा राज्य बनाम सी० महापात्रा**[1] वाले मामले में भी इस न्यायालय ने यह इंगित किया कि "लोक अभियोजक के लिए यह कहना मात्र पर्याप्त नहीं है कि अभियोजन के संबंध में कार्यवाही करना समीचीन नहीं है। उसे ऐसा आधार प्रस्तुत करना पड़ता है जिससे यह दर्शित हो कि अभियोजन की कार्यवाही अन्य बातों के साथ-साथ इस कारण वापस ली जा रही है कि अभियोजन पक्ष आरोप को साबित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य पेश करने में असमर्थ हो गया है या यह कि अभियोजन की कार्यवाही साधार प्रतीत नहीं होती है या यह कि ऐसी अन्य परिस्थितियां मौजूद हैं जिनसे स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि अभियोजन की कार्यवाही करने से न्याय प्रशासन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी या यह कि ऐसा करने से न्याय का उद्देश्य पूरा नहीं होगा।" **सुभाष चन्द्र** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में भी इस न्यायालय द्वारा इस बात पर जोर दिया गया था कि अभिमान, स्नेह या किसी अन्य उदात अथवा अनुदात कारणों से लोक अभियोजक अथवा राज्य को न्याय की अवहेलना करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता। **राजेन्द्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**[3] वाले मामले में भी इस न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया :—

> "पहले भी हमने कभी-कभी यह पाया है कि लोक अभियोजक को लोकहित में ऐसे मामलों को अभियोजन से वापस लेना बहुत ही समीचीन था जो बड़े-बड़े आंदोलनों, साम्प्रदायिक दंगों, क्षेत्रीय विवादों, औद्योगिक संघर्षों और छात्र आंदोलनों आदि से उद्भूत हुए थे। जहां विवाद्यक ऐसे हों जिनमें आवेश भरा हो और वातावरण में हिंसा व्याप्त हो वहां प्रायः देखा गया है कि शांति स्थापित करने के लिए और वातावरण में हिंसा के प्रभाव को समाप्त करने के लिए, विवाद्यक के शांतिपूर्ण समझौते के लिए और तूफान के बाद आने वाली खामोशी को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि अभियोजन को वापस ले लिया जाए। उन मामलों में जहां संवेदनात्मक विवाद्यक अंतर्ग्रस्त हों, विधि का समर्थन करने के नाम पर अभियोजन पर दृढ़ रहना समस्या को और उलझाना ही होगा। कोई भी निर्वाचित सरकार जो जनता के मनोवेगों और संवेगों के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी है, वह यदि सद्भाव का वातावरण बनाने के लिए या लौटी हुई शांति को बनाए रखने के लिए अभियुक्तों पर अभियोजन न चलाने का निश्चय करती है या पहले से चलाए गए अभियोजन को बंद करना चाहती है तो उसके लिए ऐसा करना सर्वथा न्यायोचित होगा।"

---

[1] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335.

[2] [1980] 4 उम० नि० प० 307=[1980] 2 एस० सी० आर० 44.

[3] [1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982.

अतः इस ओर ध्यान देना होगा कि अभियोजन से वापस लेने के लिए लोक अभियोजक के किसी आवेदन को इस आधार पर कायम नहीं रखा जा सकता कि सरकार साक्ष्य प्रस्तुत करना नहीं चाहती और अभियुक्त के खिलाफ अभियोजन चालू नहीं रखा जा सकता या यह कि सरकार इस बात को समीचीन नहीं समझती कि अभियोजन को चालू रखा जाए। लोक अभियोजक को कोई ऐसा आधार प्रस्तुत करना चाहिए जिससे कि लोक न्याय के हेतुक को बढ़ावा मिले या वह गतिमान हो। यदि लोक अभियोजक यह दर्शित करने में समर्थ हो जाता है कि वह आरोप को कायम रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सकेगा तो उसके द्वारा अभियोजन से वापस लेने के लिए वैध रूप से आवेदन किया जा सकता है। किंतु इस विषय में दो दृष्टिकोण हैं जिन्हें हम ऐसी स्थिति में लागू करना चाहते हैं जहां पर ऐसे आधार पर अभियोजन को वापस लेने की ईप्सा की गई है।

29. पहली विशेषता यह है कि जहां या तो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 228 के या धारा 240 के अधीन न्यायालय द्वारा आरोप विरचित कर लिया गया है तो लोक अभियोजक को इस बात की स्वतंत्रता नहीं होगी कि वह इस आधार पर अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन करे कि अभियोजन के समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। कारण यह है कि धारा 228 के अधीन न्यायालय द्वारा केवल ऐसी स्थिति में आरोप विरचित किया जा सकता है जबकि न्यायालय की यह राय हो कि यह उपधारणा करने के लिए आधार विद्यमान है कि अभियुक्त ने कोई अपराध किया है और इसी प्रकार से धारा 240 के अधीन न्यायालय केवल ऐसी स्थिति में आरोप विरचित कर सकता है जहां उसकी यह राय है कि यह उपधारणा करने के लिए आधार विद्यमान है कि अभियुक्त ने अपराध किया है। न्यायालय इन दोनों मामलों में उस सामग्री पर ध्यानपूर्वक विचार करता है जो कि पुलिस रिपोर्ट में होती है और धारा 173 के अधीन जो दस्तावेज उसके साथ भेजी जाती है और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अभियुक्त के विरुद्ध प्रथम दृष्टया मामला बन गया है और इसलिए आरोप विरचित किया जाना चाहिए। जब भली-भांति विचार करने के पश्चात् न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है और आरोप विरचित कर लिया जाता है तो यह बात समझ में आनी कठिन है कि उसी सामग्री के आधार पर न्यायालय को कैसे इस बात के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि वह यह अभिनिर्धारित करे कि अभियोजन को कायम रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। लोक अभियोजक को इस बात के लिए कैसे अनुज्ञात किया जा सकता है कि सामग्री के उसी आधार पर वह मुकर जाए? ऐसा करने से न्याय का उपहास होगा और न्याय प्रशासन स्वच्छता और विश्वसनीयता के मामले में लोगों के विश्वास को धक्का पहुंचेगा। इसलिए **बंसी लाल** बनाम **चंदी लाल**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह इंगित किया था कि यदि अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष सामग्री को इस बारे में पर्याप्त माना गया है कि वह प्रत्यर्थी के विरुद्ध आरोप विरचित करने में समर्थ हो सके तो यह कहना संभव नहीं होगा कि अभियोजन के मामले के समर्थन में साक्ष्य विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार **बलवंत सिंह** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले न्यायालय ने इस बात को दोहराया था कि राज्य को

---

[1] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 370.

[2] [1978] 4 उम० नि० प० 244=[1978] 1 एस० सी० आर० 604.

पहले यह कथन करके, कि एक सच्चा मामला बनता है जिसके आधार पर विचारण किया जाए और उसके पश्चात् इस बारे में वह मुकर जाए कि द्वितीय अन्वेषण के आधार पर मालूम हुआ है कि मामला मिथ्या है, उसे न्यायालय को महत्वहीन नहीं बना देना चाहिए। अंत में उल्लिखित मामले में लोक अभियोजक ने अभियोजन को वापस लेने के आवेदन के समर्थन में द्वितीय अन्वेषण का आश्रय लेने की ईप्सा की थी किंतु उसे स्पष्ट रूप से और असंदिग्ध रूप से इस न्यायालय द्वारा स्वीकृति नहीं दी गई थी। स्पष्टतः लोक अभियोजक उस समय अत्यधिक कमजोर आधारों पर कार्य करेगा जबकि उस सामग्री के आधार पर जो कि उस समय न्यायालय के समक्ष थी जबकि उसने आरोप विरचित किया था, जबकि वह बाद में अभियोजन को इस आधार पर वापस लेना चाहता है कि अभियोजन को कायम रखने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। अतः यह बात स्पष्ट है कि अभियोजन को किसी भी प्रक्रम पर वापस लिया जा सकता है। उसे आरोप विरचित किए जाने के पश्चात् भी वापस लिया जा सकता है। लोक अभियोजक इस बात के लिए सक्षम नहीं होगा कि जब एक बार आरोप विरचित कर लिया जाता है तो वह इस आधार पर अभियोजन को वापस लेने के लिए आवेदन करे कि वही सामग्री विद्यमान है जो उस समय न्यायालय के समक्ष विद्यमान थी जब उसके द्वारा आरोप विरचित किया गया था और अभियोजन को वापस लेने के लिए वह पर्याप्त नहीं है। वास्तव में यदि कोई ऐसी सामग्री है जो बाद में जानकारी में आई है जिससे कि अभियोजन के मामले की सत्यता पर संदेह किया जा सकता है तो लोक अभियोजक निश्चित रूप से इस आधार पर अभियोजन को वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है कि अभियोजन सुआधारित नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि इसी दौरान किसी मुख्य साक्षी की मृत्यु हो सकती है या कोई महत्वपूर्ण साक्ष्य अनुपलब्ध हो सकता है या इसी प्रकार की कोई अन्य घटना घटित हो गई हो। ऐसी स्थिति में लोक अभियोजक वैध रूप से यह अनुभव कर सकता है कि ऐसे साक्ष्य के अभाव में अभियोजन को कायम रखना संभव नहीं हो सकेगा और वह अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन कर सकता है। किंतु उसी सामग्री के आधार पर बिना किसी अन्य घटना के लोक अभियोजक आरोप विरचित किए जाने के पश्चात् अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन नहीं कर सकता। उसे ऐसा करने के लिए अनुज्ञात करना न्यायिक प्रक्रिया की स्वच्छता और विश्वसनीयता के बारे में लोगों का विश्वास कम हो जाएगा।

30. दूसरी विशेषता जिसे हमें अवश्य ही लागू करना चाहिए ऐसी स्थिति से संबंधित है जहां आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है किंतु पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किये गये वारंट मामले में आरोप विरचित नहीं किया गया है। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 239 में यह उपबंध किया गया है कि—

> "यदि धारा 173 के अधीन पुलिस रिपोर्ट और उसके साथ भेजी गई दस्तावेजों पर विचार कर लेने पर और अभियुक्त की ऐसी परीक्षा, यदि कोई हो, जैसी मजिस्ट्रेट आवश्यक समझे, कर लेने पर और अभियोजन और अभियुक्त को सुनवाई का अवसर देने के पश्चात् मजिस्ट्रेट अभियुक्त के विरुद्ध आरोप को निराधार समझता है तो वह उसे उन्मोचित कर देगा और ऐसा करने के अपने कारण लेखबद्ध करेगा।"

जब पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किया गया वारंट मामला न्यायालय के समक्ष आता है तो न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पुलिस रिपोर्ट तथा उसके साथ भेजी गई अन्य दस्तावेजों पर ही विचार करे और न्यायालय, यदि कोई हो, अभियुक्त की ऐसी परीक्षा कर सकता है जैसा कि वह आवश्यक समझे और ऐसी सामग्री के आधार पर यदि न्यायालय अभियोजन को और अभियुक्त को सुनवाई का अवसर देने के पश्चात् उसका यह विचार है कि अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए आरोप निराधार हैं तो न्यायालय अभियुक्त को मुक्त करने के लिए बाध्य है। इसलिए न्यायालय जब धारा 239 के अधीन अपने कृत्यों का प्रयोग करता है तो वह पुलिस रिपोर्ट तथा उसके साथ भेजे गए अन्य दस्तावेजों पर विचार कर सकता है और यदि न्यायालय अभियुक्त की परीक्षा करने के विकल्प का प्रयोग करता है तो वह उसके द्वारा किए गए किसी कथन पर भी विचार कर सकता है और यदि न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि अभियुक्त के विरुद्ध कोई प्रथम दृष्टया मामला नहीं बनता है तो न्यायालय उसे मुक्त कर देता है। किंतु वह बात संक्षेप में यह है जो कि न्यायालय को उस समय करनी होती है जब इस आधार पर, कि साक्ष्य अपर्याप्त है या अभियोजन का समर्थन करने के लिए साक्ष्य बिल्कुल भी नहीं है, लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन किया जाता है। न्यायालय को यह विनिश्चय करने के लिए कि क्या लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन से वापस लिए जाने के लिए प्रस्तुत किया गया आधार न्यायोचित है अथवा नहीं, अभियोजन की ओर से उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री पर भी विचार करना होता है और वह सामग्री वही होगी जो सामग्री न्यायालय के समक्ष उस समय थी जब वह धारा 239 के अधीन अपने कृत्यों का निर्वहन कर रहा होता है। यदि न्यायालय अभियोजन के समर्थन में साक्ष्य की अपर्याप्तता अथवा उसके अभाव के आधार पर वापस लेने के लिए आवेदन पर विचार कर रहा होता है तो उसे यह विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए उस सामग्री की इस हेतु संवीक्षा करनी होती है कि क्या वास्तव में साक्ष्य अपर्याप्त है अथवा अभियोजक के समर्थन में साक्ष्य बिल्कुल भी नहीं है। न्यायालय को साथ ही धारा 239 के अधीन इस बात पर भी विचार करना होता है कि क्या अभियुक्त को मुक्त कर दिया जाएगा अथवा उसके विरुद्ध आरोप पत्र विरचित किया जाए। यह उसी प्रकार के कार्य का प्रयोग है जब न्यायालय वह कृत्य कर रहा होता है कि क्या न्यायालय धारा 239 के अधीन अथवा धारा 321 के अधीन कार्य करता है। यदि ऐसा है तो हमारा यह विचार नहीं है कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किए गए किसी वारंट मामले में लोक अभियोजक को यह हक होगा कि वह अभियोजन से वापस लेने के लिए इस आधार पर आवेदन करे कि अभियोजन के समर्थन में साक्ष्य अपर्याप्त है अथवा साक्ष्य बिल्कुल नहीं है। न्यायालय को उसी विवाद्यक पर धारा 239 के अधीन विचार करना होता है और इससे अधिक निश्चय के साथ लोक न्याय के हेतुक को गति अथवा बढ़ावा मिलता है, यदि न्यायालय धारा 239 के अधीन विवाद्यक की परीक्षा करता है और अपने समक्ष सामग्री पर न्यायपूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात् अभियुक्त को मुक्त करने के लिए अपने कारण देता है, बजाय इसके कि लोक अभियोजक द्वारा अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाए। जब अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो उस समय सदैव ही लोगों के दिमाग में बुरी भावनायें उत्पन्न होती हैं क्योंकि मामले के बारे में न्यायालय के समक्ष बहस किए जाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया गया है और

न्यायालय ने अपने न्यायिक अधिमत प्रकट नहीं किया है। किंतु यदि इसके विपरीत न्यायालय सामग्री की परीक्षा करता है और धारा 239 के अधीन अभियुक्त को दोषमुक्त करता है तो वह जनता का अधिक विश्वास प्राप्त करता है क्योंकि बजाय इसके कि अभियोजन को वापस लिया जाए और उसे न्यायिक संवीक्षा के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाए, न्यायिक अधिमत जो कि न्यायालय के समक्ष सामग्री का जायजा लेने और उसका मूल्यांकन करने पर आधारित है, उससे सदैव ही अधिक विश्वास उत्पन्न होगा चूंकि इन समस्त मामलों में मार्गदर्शक विचारधारा लोक न्याय की अनिवार्यता है और यह नितांत आवश्यक है कि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु वह किया गया प्रतीत भी होना चाहिए। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि किसी वारंट मामले में जो कि पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किया गया है—जैसा कि प्रस्तुत मामला डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध स्वीकृत रूप से है—तो लोक अभियोजक के लिए यह कोई विधिपूर्ण आधार नहीं होगा कि वह वापस लेने के लिए आवेदन के समर्थन में जोर देकर यह कहे कि अभियोजन के समर्थन में साक्ष्य अपर्याप्त है अथवा साक्ष्य नहीं है। ऐसे मामलों में न्यायालय को धारा 239 के अधीन विनिश्चय किए जाने के लिए छोड़ देना चाहिए कि क्या अभियुक्त को मुक्त किया जाना चाहिए अथवा उसके विरुद्ध आरोप पत्र विरचित किया जाना चाहिए।

31. हम उस बात को पुनः दोहरा सकते हैं जो कि इस न्यायालय द्वारा **उड़ीसा राज्य बनाम सी० महापात्रा**[1] वाले मामले में कही गई थी कि किसी विशेष मामले में यह बात न्याय के हित में साधक नहीं हो सकती कि अभियोजन को चालू रखा जाए, जबकि अभियोजन ऐसा है कि उसमें दोषसिद्धि की संभावना है और उससे कटुता की भावना और मतभेद उत्पन्न हो सकता है और उससे वह सद्भावपूर्ण और शांतिपूर्ण वातावरण भंग हो सकता और जिसे पुनः स्थापित किया गया हो। अंततोगत्वा हम इस बात को नहीं भूल सकते कि प्रत्येक अपराध के पीछे कोई न कोई सामाजिक अथवा आर्थिक हेतुक होता है और यदि राज्य ऐसा अनुभव करता है कि यदि अपराध के सामाजिक अथवा आर्थिक हेतुक के समाप्त करने अथवा उसका उन्मूलन करने के लिए अभियोजन को चालू न रख कर पूर्ति हो जाएगी तो राज्य को स्पष्ट रूप से यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह मामले को अभियोजन से वापस ले ले। यह वह आधार है जिस पर इस न्यायालय द्वारा **उड़ीसा राज्य बनाम सी० महापात्रा**[1] वाले मामले में एक ऐसे विषय में अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया गया था जिसमें कि उस घटना के परिणामस्वरूप दो व्यवसाय संघों के विरोधियों के बीच विवाद उत्पन्न हुआ था, किंतु उस घटना की तारीख से एक अच्छा शांत वातावरण उस औद्योगिक स्थापन में हो गया था। लोक शांति का एक बृहत्तर कारण हो सकता है, उससे बड़ा कारण लोक न्याय का और उससे भी गहन कारण किसी स्थान पर लंबे समय के लिए सुरक्षा की बढ़ोतरी का हो सकता है। किसी ऐसे उपद्रवपूर्ण वातावरण में अव्यवस्थित स्थिति अथवा एकरूपता की व्यवस्था के लिए हो सकता है जिससे कि राज्य वैध रूप से इस बात के लिए प्रेरित हो सकता है कि वह बृहत्तर लाभ के लिए किसी लंबित मामले का त्याग कर दे। लोक न्याय की अनिवार्यता ऐसे मामलों में किसी विशेष मुकदमेबाजी के विधिक न्याय के मुकाबले

---

[1] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335.

में श्रेष्ठतर अथवा ऊपर हो सकती है। हम उस बात से पूर्णतः सहमति व्यक्त करते हैं जो इस न्यायालय द्वारा **बलवंत सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में कही गई है कि साम्प्रदायिक उपद्रव, जिनको कि शांतिपूर्ण रूप से तय किया जा सकता था, एक या दो लंबित अभियोजनों के कारण पुनः नहीं भड़कने चाहिएं। ऐसे श्रम विवाद जिनसे कि आपराधिक मामले उत्पन्न होते हैं, जब वे तय हो जाते हैं तो वे संभवतः इस बात का एक दूसरा उदाहरण बन जाते हैं जहां कि एक बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में लोक न्याय के हित में यह उचित हो सकता है कि अभियोजन को वापस ले लिया जाए। हम उन मताभिव्यक्तियों का भी अनुमोदन करते हैं जो इस न्यायालय द्वारा **राजेन्द्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में की गई थी जिन्हें हमने उपर्युक्त पैरा 28 में उद्धृत की हैं। मोटे तौर से वे ऐसे कारण हैं जिनको कि लोक न्याय की परिधि के अंतर्गत इसलिए लाया जा सकता है जिससे कि अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन न्यायोचित ठहराया जा सके। किंतु वास्तव में हमें यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि इस विषय में कोई ऐसा सुनिश्चित नियम नहीं है जिसे अधिकथित किया जा सके। न ही मामलों का कोई ऐसा प्रवर्ग है जिनमें कि यह परिभाषित किया जा सके जिनमें कि अभियोजन के लिए किसी आवेदन को वैध रूप से किया जा सकता हो। अंततोगत्वा न्याय के उद्देश्यों को बढ़ावा देने के लिए जो बात आवश्यक है उसे ध्यान में रखते हुए यह बात अवश्य ही प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है।

32. जब अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति के लिए आवेदन विचार के लिए आता है तो न्यायालय को यह विनिश्चित करना होता है कि क्या ऐसी सम्मति दी जाए अथवा नहीं। इस विनिश्चय पर पहुंचने के लिए न्यायालय जिस कृत्य का पालन करता है, जैसे कि इस न्यायालय द्वारा **बिहार राज्य** बनाम **राम नरेश पांडे**[3] वाले मामले में इंगित किया गया है, एक न्यायिक कृत्य होता है। न्यायालय को अपने न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग ऐसी सामग्री के आधार पर करना होता है जो कि उस समय उसके पास उपलब्ध हो और ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग करने में न्यायालय को अपना यह समाधान कर लेना होता है कि लोक अभियोजक के कार्यपालक कृत्य का प्रयोग अनुचित रूप से नहीं किया गया है और यह कि वे आधार जो कि मामले के वापस लेने के लिए आवेदन के समर्थन में पेश किए गए हैं लोक न्याय को बढ़ावा देने के लिए विधिपूर्ण आधार हैं। न्यायालय को इस विवेकाधिकार का प्रयोग यंत्रवत नहीं करना होता है और वह सम्मति जिनके लिए आवेदन किया गया है औपचारिकता मात्र के लिए अथवा मात्र पूछने के लिए नहीं दी जाती। न्यायालय को उस सामग्री पर विचार करना होता है जो उसके समक्ष प्रस्तुत की गई है और अपना यह समाधान करना होता है कि अनुमति दिए जाने से न्याय के हित की पूर्ति हो जाएगी। इसलिए इस न्यायालय ने **बिहार राज्य** बनाम **राम नरेश पांडे**[3] वाले मामले में उस समस्त सामग्री की परीक्षा की थी जो उसके समक्ष उपलब्ध थी, जो इस निष्कर्ष पर पहुंचने के प्रयोजन के लिए थी कि कोई ऐसा साक्ष्य नहीं था जिसके आधार पर अभियुक्त महेश देसाई के विरुद्ध

---

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 244=[1978] 1 एस० सी० आर० 604.

[2] [1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982.

[3] [1957] एस० सी० आर० 279.

अभियोजक को कायम रखा जा सकता था। इस न्यायालय ने यह इंगित किया कि लोक अभियोजक के आवेदन के आधार पर सम्मति तत्परता से, बिना उन आधारों की सतर्कतापूर्ण और उचित संवीक्षा के बिना, नहीं दी जानी थी जिनके आधार पर सम्मति के लिए आवेदन किया गया था। इस न्यायालय द्वारा इस बात पर जोर दिया गया था कि इन मामलों में लोक अभियोजक को वैवेकिक कृत्यों का प्रयोग करना होता है जिनके बारे में कार्यपालिका द्वारा बात प्रारंभ की जाती है किंतु उत्तरदायित्व न्यायालय का ही होता है। इस न्यायालय ने पुन: **एम० एन० शंकर नारायणन नायर** बनाम **पी० वी० बालकृष्ण और अन्य**[1] वाले मामले में यह बात दोहराई थी कि न्यायालय को अवश्य ही अपना यह समाधान कर लेना चाहिए कि लोक अभियोजक के कार्यपालक कृत्यों का प्रयोग अनुचित रूप में नहीं किया गया है और यह कि यह एक ऐसा प्रयास नहीं है जिसके आधार पर न्याय के सामान्य अनुक्रम में हस्तक्षेप किया जाए और आगे यह कहा कि न्यायायल को अपनी अनुज्ञा केवल तभी देनी चाहिए यदि उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री के आधार पर उसका यह समाधान हो जाता है कि सम्मति दिए जाने से न्याय प्रशासन के उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी। ऐसा ही दृष्टिकोण पश्चात्वर्ती सभी मामलों में अपनाया गया और इसके बारे में अब यह अवश्य ही सुनिश्चित माना जाना चाहिए कि न्यायालय को उस समय, जब कि वह इस विषय में विचार कर रहा होता है कि क्या सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं, स्वयं लोक अभियोजक द्वारा कही गई बात को स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए और मात्र इस बात की परीक्षा करके अपनी संतुष्टि नहीं कर लेनी चाहिए कि क्या लोक अभियोजक ने इस बात पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है किंतु न्यायालय को अवश्य ही केवल अपना यह समाधान ही नहीं करना चाहिए कि वे आधार लोक न्याय के बढ़ावे के लिए संबद्ध अथवा सुसंगत हैं किंतु यह भी समाधान करना चाहिए कि क्या वे आधार वास्तव में समाधानप्रद रूप से सिद्ध हो गए हैं। अंतिम कसौटी जिसे कि इस बात का अवधारण करने में न्यायालय को लागू करना चाहिए कि किसी विशेष मामले में वे आधार विधिमान्य हैं, यह है कि लोक न्याय की अनिवार्यता मामले के वैध न्याय से ऊपर होती है ताकि लोक न्याय के बृहत्तर हित में अभियोजन को वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जा सके। वैसे ही कारण, जिनका कि हमने उस बात का अवधारण करते हुए विवेचन किया है कि वे विधिक आधार कौन से हैं जिन पर कि अभियोजन से वापस लेने के लिए लोक अभियोजक द्वारा आवेदन किया जा सकता है, न्यायालय का मार्गदर्शन करने में उस समय लागू किया जाने चाहिएं कि क्या अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं। हम इस बात पर पुन: जोर दे सकते हैं कि लोक न्याय की अनिवार्यता से ही केवल सुसंगत कारण इस बात का अवधारण करने के लिए व्यवस्थित होते हैं कि क्या सम्मति दी जानी चाहिए अथवा नहीं। यह बात संभव नहीं हो सकती कि अनन्य रूप से परिभाषा दी जाए जिसे कि लोक न्याय की अनिवार्यता के भीतर माना जा सके, न यह ही संभव है कि लोक न्याय की धारणा को किसी बने बनाए सूत्र में रखा जा सके। अवश्य ही प्रत्येक मामला उसके विशेष तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर होना चाहिए क्योंकि असंख्य ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें कि इस न्यायालय द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। सर्वोपरि कारण अवश्य ही लोक न्याय की अपेक्षा होना चाहिए और कुछ

---

[1] [1972] 2 एस० सी० आर० 599=[1971] 2 उम० नि० प० 37.

आधारों की, जिनसे कि मामला लोक न्याय की परिधि के अंतर्गत आ जाता है, हमारे द्वारा पूर्वगामी पैरा में पहले ही चर्चा की जा चुकी है और हमें उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है। उन्हीं आधारों के बारे में यह माना जा सकता है कि वे लोक न्याय की अपेक्षा से संबद्ध और सुसंगत हैं और यदि वे विद्यमान हों तो न्यायालय अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति देने में न्यायोचित होगा।

33. यदि हम इन सिद्धांतों का प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पटना के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट का न्यायालय और साथ ही उच्च न्यायालय भी डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए सम्मति देने में गलती पर थे। हम यह नहीं समझते कि इस प्रश्न पर विचार किया जाए कि उस सामग्री को, जो न्यायालय के पास उपलब्ध थी, डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के अभियोजन को कायम रखने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती थी क्योंकि यदि हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं और सामग्री की पर्याप्तता के बारे में कोई मत व्यक्त करते हैं तो इस प्रकार मत व्यक्त करने से डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य अभियुक्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। वास्तव में यदि ऐसे कोई अन्य कारण नहीं थे जिनसे कि न्यायालय इस बात के लिए प्रेरित होता कि अभियोजन के वापस लेने के लिए सम्मति दी जाए, तो हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते थे कि क्या न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री अभियोजन को कायम रखने के लिए प्रथम दृष्टया पर्याप्त थी। किंतु दो बहुत ही प्रबल और निश्चयात्मक ऐसे कारण हैं कि अभियोजन से वापस लेने के लिए सम्मति अवश्य ही नहीं की जाए। सबसे पहले तो विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट धारा 239 के अधीन इस बात पर विचार कर सकता था कि क्या उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्टया मामला बनाने के लिए पर्याप्त थी ताकि यदि विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ऐसी सामग्री के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता कि डा० जगंनाथ मिश्र और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध लगाए गए आरोप निराधार थे तो उसके द्वारा लेखबद्ध किए गए कारणों के आधार पर वह उन्हें मुक्त करने के लिए बाध्य था। ऐसा कोई कारण नहीं है कि इन परिस्थितियों में लोक अभियोजक को धारा 321 के अधीन अभियोजन वापस लेने के लिए अनुज्ञात किया जाए। ऐसा ही कार्य विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 239 के अधीन कार्यवाही करते हुए किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत मामले में अभियोजन से वासप लेने के लिए विनिश्चय 24 फरवरी, 1981 को की गई एक बैठक में मंत्रिमंडल द्वारा किया गया था और इस बैठक की अध्यक्षता स्वयं डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा की गई थी। यह हो सकता है कि श्री लल्लन प्रसाद सिन्हा ने विकसित रूप से मंत्रिमंडल के इस विनिश्चय का पालन न किया हो और इस प्रश्न पर उसने स्वतंत्र रूप से विचार किया हो कि अभियोजन को वापस लिया जाना चाहिए अथवा नहीं; किंतु ऐसा होने पर भी इससे न्याय प्रशासन में लोगों का विश्वास बहुत कम हो जाता यदि उसके विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए विनिश्चय स्वयं अभियुक्त द्वारा किया जाता और इस विनिश्चय के अनुसरण में उस विशेष लोक अभियोजक द्वारा जिसको कि उस राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है जिसका कि अभियुक्त मुख्यमंत्री है, अभियोजन से वापस लेने के लिए आवेदन किया जाता है। यह एक प्राथमिक सिद्धांत है कि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु किया गया अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए। यह बात न्याय के सभी सिद्धांतों के लिए हानिकारक होगी कि अभियुक्त

ही स्वयं के विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए विनिश्चय करे और इसके पश्चात् विशेष लोक अभियोजक, जिसको कि वस्तुतः उसी के द्वारा नियुक्त किया गया है, अभियोजन को वापस लेने के लिए आवेदन करे। हमारा यह विचार है कि ये दो कारण इतने प्रबल और निश्चयात्मक हैं कि प्रस्तुत मामले में अभियोजन के वापस लेने से लिए सम्मति बिल्कुल भी नहीं दी जानी चाहिए थी।

34. निःसंदेह यह बात सच है कि यदि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध अभियोजन को वापस लेने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं है तो यह बात उनके लिए तंग करने वाली और असुविधाजनक होगी कि उनसे यह अपेक्षा की जाए कि वे धारा 239 के अधीन मुक्ति का आदेश प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हों और बहस करें। किंतु इतना होने पर भी हमारा यह विचार है कि यह बात लोक न्याय के हित में समीचीन होगी कि उच्च पदासीन राजनीतिज्ञों को, जो किसी अपराध के अभियुक्त हों, न्यायिक पद्धति के बारे में तिकड़म करने के बजाय न्यायिक प्रक्रिया का सामना करके मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार वे राजनीतिक प्रक्रिया और साथ ही न्यायिक प्रक्रिया की वैधता को भी खतरे में डाल देते हैं। यह बात संभव है कि किसी विशेष मामले में तंग किया जाना अथवा असुविधा अभियोजन को वापस न लिए जाने का कारण हो सकती है, यदि अभियुक्त वास्तव में निर्दोष है और अंततोगत्वा उसे मुक्त करना पड़ेगा किंतु इस प्रकार तंग किए जाने अथवा असुविधा को अवश्य ही लोक जीवन के लिए अनिवार्य मूल्य माना जाना चाहिए जिसे कि लोक शक्ति को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को अदा करने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए क्योंकि न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए किंतु किया गया अवश्य ही प्रतीत होना चाहिए।

35. तद्नुसार हम इस अपील को मंजूर करते हैं, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा पारित और उच्च न्यायालय द्वारा पुष्ट किए गए आदेश को अपास्त करते हैं और यह निदेश देते हैं कि डा० जगन्नाथ मिश्र और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन विधि के अनुसार जारी रखा जाए।

न्यायमूर्ति वेंकटरामय्या के मतानुसार (बहुमत निर्णय के साथ सहमति व्यक्त करते हुए)

36. मैंने मुख्य न्यायमूर्ति भगवती और न्या० खालिद के उन निर्णयों को पढ़ा है जो आज ही दिए गए हैं। मैंने विशेष न्यायाधीश के उस आदेश को भी पढ़ा है जिसमें अभियोजन के वापस लेने को अनुज्ञात किया गया है। उसे अभिपुष्ट करने वाले उच्च न्यायालय के निर्णय को भी पढ़ा है और उन तीनों निर्णयों को भी पढ़ा है जो न्यायमूर्ति तुलजापुरकर, न्या० बहरूल इस्लाम और न्या० आर० बी० मिश्र द्वारा दिए गए हैं जिनमें इस न्यायालय के बहुमत द्वारा प्रश्नगत आपराधिक मामले के वापस लिए जाने को अभिपुष्ट किया गया है और न्यायमूर्ति ए० एन० सेन द्वारा दिए गए निर्णय को भी पढ़ा है जिन्होंने पुनर्विलोकन याचिका को ग्रहण करने वाले आदेश को पारित किया है। मामले के तथ्यों को ऊपर निर्दिष्ट निर्णयों में दे दिया गया है और यह आवश्यक नहीं है कि यहां उन्हें दोहराया जाए। मैंने मामले पर इसलिए गंभीरतापूर्वक विचार किया है क्योंकि यह लोक जीवन की स्वच्छता से संबद्ध है।

37. प्रारंभ में यह कथन कर देना चाहिए कि मात्र इस कारण से, कि न्यायालय उसके समक्ष दोषारोपित किए गए किसी अभियुक्त को मुक्त कर देता है अथवा दोषमुक्त कर देता है, न्यायालय के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि उसने अपराध के बारे में समझौता कर लिया है। भ्रष्टाचार, जो कि मुख्य रूप में उच्च पदस्थ व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, शक्ति से दबा दिया जाना चाहिए। परंतु ऐसा करने में हमें भावनाओं के वश में आकर कारण को दृष्टिओझल नहीं कर देना चाहिए। न्यायालय सदैव ही उस सामग्री के आधार पर कार्य करता है जो कि उसके समक्ष प्रस्तुत की जाती है और यदि उसका निष्कर्ष यह है कि यह सामग्री अपराध से अभियुक्त को संबद्ध करने के लिए पर्याप्य नहीं है तो उसे इस तथ्य के बावजूद भी कि वह अपराध, जिसके बारे में परिवाद किया गया है, एक गंभीर अपराध है यथास्थिति अभियुक्त को मुक्त अथवा दोषमुक्त करना होगा। इसी प्रकार से यदि न्यायालय की सम्मति से सुआधारित कारणों के आधार पर लोक अभियोजक द्वारा मामले को वापस ले लिया गया है तो यह न्यायालय वापस लिए जाने के आदेश में बहुत कम हस्तक्षेप करेगा। इस मामले में यदि विशेष न्यायाधीश ने वापस लेने के लिए आवेदन को नामंजूर कर दिया है और उच्च न्यायालय ने उस आदेश को अभिपुष्ट कर दिया है तो यह न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उस आदेश में हस्तक्षेप नहीं करेगा। ऐसा होने पर भी यदि विशेष न्यायाधीश ने वापस लिए जाने को अनुज्ञात कर दिया है किंतु उच्च न्यायालय ने उस आदेश को उलट दिया है तो भी यह न्यायालय उच्च न्यायालय के आदेश में हस्तक्षेप नहीं करेगा। किंतु यह मामला ऐसा मामला है जिसमें विशेष न्यायाधीश ने अभियोजन से वापस लिए जाने को अनुज्ञात कर दिया था और वापस लिए जाने के उक्त आदेश को उच्च न्यायालय और साथ ही इस न्यायालय द्वारा पहले सुनाए गए बहुमत निर्णय के द्वारा भी अभिपुष्ट कर दिया गया है। प्रश्न यह है कि क्या इस न्यायालय को पुनर्विलोकन करते हुए मामले को वापस लिए जाने को अनुज्ञात करने वाले आदेश में हस्तक्षेप करना चाहिए। क्या ऐसे कोई प्रबल और बाध्यकारी कारण विद्यमान हैं जिनके आधार पर अभियोजन को अनुज्ञात करने वाले आदेश में हस्तक्षेप की अपेक्षा है। यही वह प्रश्न है जो हमारे समक्ष उद्भूत हुआ है।

38. चूंकि विशेष न्यायाधीश, उच्च न्यायालय और न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम तथा न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र के आदेश अभियुक्त के पक्ष में हैं तो मैं उनके प्रति निर्देश नहीं करूंगा। मैं केवल न्यायमूर्ति तुलजापुरकर के निर्णय के प्रति निर्देश करूंगा (देखिए **शिवनंदन पासवान** बनाम **बिहार राज्य**[1]) जिन्होंने यह विनिश्चय करने में अभियुक्त के विरुद्ध अभिनिर्धारित किया है कि क्या ऐसी अपराध में फंसाने वाली परिस्थितियां विद्यमान हैं जो इस बात के लिए इस न्यायालय को बाध्य करती हैं कि अभियोजन को वापस लिए जाने को अनुज्ञात करने वाले आदेश को अपास्त कर दिया जाए। रिपोर्ट के पृष्ठ 101 से 103 पर अपने निर्णय में न्यायमूर्ति तुलजापुरकर ने डा० जगन्नाथ मिश्र के विरुद्ध मामले को निम्न प्रकार सारांश दिया है—

> "उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी कि ऊपर उल्लिखित दस्तावेजी साक्ष्य, जिनकी सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता, प्रत्यर्थी सं० 2 के विरुद्ध

---

[1] [1983] 2 उम० नि० प० 897 (पृष्ठ 946-48 पर)=[1983] 2 एस० सी० आर० 61.

प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध करते हैं और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(2) के साथ पठित धारा 5(1)(ख) के अधीन दांडिक अवचार का अपराध करने के लिए उनका विचारण करने हेतु पर्याप्त है। इसी प्रकार भारतीय दंड संहिता की धारा 466 के अधीन कूटरचना का आनुषंगिक अपराध करने के संबंध में भी इसी प्रकार की स्थिति है। कूटरचना का अपराध उनके द्वारा किया गया अभिकथित है। उनके द्वारा दूसरे आदेश पर पहले की तारीख डालने के बारे में कोई विवाद नहीं है तथा अभिलेख से यह बात स्पष्ट होती है कि किस प्रकार पहले की तारीख डालने के संबंध में अन्वेषण के दौरान उसके द्वारा कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था जब उनसे अपने वकीलों की हाजिरी में उसके बारे में प्रश्न पूछे गए थे, हमारे समक्ष फाइल किए गए प्रतिथपथपत्रों में से किसी भी प्रतिशपथपत्र में किसी भी प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। किंतु बहस के दौरान उनके काउंसेल ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि उसे केवल सद्भावी त्रुटि या चूक ही कहा जा सकता है (देखिए—तारीख 14 अक्तूबर, 1982 का लिखित तर्क) किंतु इस स्वीकृत तथ्य को ध्यान में रखते हुए ऐसे स्पष्टीकरण की संवीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्रथम आदेश पर पिछली तारीख का आदेश चिपकाने के पश्चात् हाशिए में प्रतीत होने वाली प्रेषण तारीख दुबारा लिखावट द्वारा तारीख 14 मई, 1975 की जाना अपेक्षित थी और वह परिवर्तन की गई है और यदि दुबारा लिखावट की जाना अपेक्षित था तो कोई सद्भाविक त्रुटि या चूक नहीं हो सकती। इन परिस्थितियों में पूर्व तारीख का लिखा जाना ऐसी किसी संभव कार्यवाही को अकृत करने का आशय होगा जो पहले आदेश के अनुसरण में की जा सकती थी अथवा की गई है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है वह उसका बहुत ही स्वाभाविक परिणाम होगा जो वह विधि के अनुसार किए जाने की उपधारणा करते हैं। यद्यपि वे विचारण में उसका खंडन करने के लिए स्वतंत्र हैं किंतु इस क्षण खंडन के लिए अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं है। इन परिस्थितियों में अभियोजन की वापसी के लिए विधिमान्य आधार के रूप में साक्ष्य की कमी अथवा सफल अभियोजन के अवसर की कमी को स्वीकार करना संभव नहीं है। उपर्युक्त अविवादग्रस्त दस्तावेजी साक्ष्य के आधार पर खंडन की जाने वाली ऐसी किसी सामग्री के अभाव में दो मत होना संभव नहीं है जिसे यद्यपि प्रत्यर्थी सं० 2 को विचारण में विचारण न्यायालय के समक्ष पेश करने का अवसर होगा जहां तक अनुचित अथवा अधिक उत्साही अन्वेषणों का संबंध है, वह काफी दूर है जब उपर्युक्त साक्ष्य अस्तित्व में आया था।

जहां तक प्रत्यर्थी सं० 3 (नवल किशोर सिन्हा) और प्रत्यर्थी सं० 4 (जीवन चंद्र झा) का संबंध है यह बात नहीं भूली जा सकती कि उन्हें दांडिक षड्यंत्र के आरोप पर प्रत्यर्थी सं० 2 के साथ आरोपित किया गया है जिसके अनुसरण में उन सब द्वारा कई अपराध किए गए अभिकथित हैं। इसके अतिरिक्त यह बात स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(2) के साथ पठित धारा 5(1)(ग) के अधीन दांडिक अवचार के अपराध का जो कि प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा किया गया अभिकथित है, मुख्य फायदा प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्रत्यर्थी सं० 3 है तथा जहां तक

प्रत्यर्थी सं० 4 का संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी सहअपराधिता दर्शाने के लिए अभिलेख पर कोई सामग्री नहीं है। स्वीकार्यतः वह कई वर्षों से प्रत्यर्थी सं०2 का बहुत ही निकट व्यक्ति रहा है और वह उसके प्राइवेट और दल के कामकाजों की देखभाल कर रहा था और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसके विरुद्ध अभिकथन यह है कि उसका संबंध सेंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, पटना डाक बंगला शाखा में प्रत्यर्थी सं० 2 के बचत बैंक खाते में तारीख 27 दिसंबर, 1973 और 1 अप्रैल, 1974 को 10,000 रुपए और 3,000 रुपए की दो रकमों के निक्षेप से है जिसके बारे में अभियोजन ने यह कहा है कि ये राशियां रिश्वत की रकमें हैं जो प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा प्राप्त की गई अभिकथित हैं, तथा प्रत्यर्थी सं०2 के लेखे में किए गए दो निक्षेपों के सबूत में स्पष्ट दस्तावेजी साक्ष्य में सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया की संबंधित शाखा में जमा करने की दो पर्चियां हैं। क्या ये दो रकमें पटना अर्बन कोआपरेटिव बैंक की निधि से आई हैं अथवा नहीं तथा क्या वे वास्तविक रूप से रिश्वत की रकमों के रूप में संदत्त की गई थीं अथवा नहीं, और यह एक ऐसा पहलू है जिस पर विचारण में विचार करना होगा। तथापि जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है धारा 5(1)(घ) के अधीन अपराध अन्यथा उस समय भी पूरा हो जाएगा यदि धन संबंधी लाभ (सरचार्ज के सिविल दायित्व को टालने के संबंध में) नवल किशोर सिन्हा और अन्य व्यक्तियों को दिया गया था। यदि प्रत्यर्थी सं०2 को विचारण का सामना करना है तब ऐसे मामले में जहां "षड्यंत्र का आरोप लगाया गया है वहां प्रत्यर्थी सं०3 और प्रत्यर्थी सं० 4 के विरुद्ध अभियोजन की वापसी अनुज्ञात नहीं की जा सकती। इस निष्कर्ष पर पहुंचते समय कि साक्ष्य की कमी कोई विधिमान्य आधार नहीं है मैंने जानबूझकर तर्क योग्य साक्ष्य जैसे मुखबिर, संस्वीकारात्मक कथन आदि को विचार से अपवर्जित किया है (उक्त साक्ष्य की विश्वसनीयता और प्रभाव के बारे में विचारण न्यायालय को विनिश्चय करना है)। उपरोक्त साक्ष्य सन् 1977 में प्रत्यर्थी सं०2 के सत्ता से बाहर हो जाने के पश्चात् अन्वेषण अधिकारियों द्वारा अति उत्साही होकर संग्रह किया गया कहा जाता है।"

39. इस मामले में अभियुक्त के विरुद्ध तीन परिस्थितियां बताई गई हैं—वे ये हैं— (i) कि जीवानंद झा ने डा० जगन्नाथ मिश्र के बचत बैंक खाते में तारीख 27 दिसंबर, 1973 और 1 अप्रैल, 1974 को क्रमशः 10,000 रुपए और 3,000 रुपए जमा करवाए थे; (ii) यह कि तारीख 16 मई, 1975 को डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा पारित आदेश की तारीख बदल कर पहले की तारीख की गई थी, और उसके बारे में यह दर्शित किया गया था कि वह 14 मई, 1975 को पारित किया गया था, और (iii) यह कि हैदरी का एक ऐसा संस्वीकारोक्तिपूर्ण कथन था जिससे कि अभियोजन का समर्थन होता था। स्वयं न्यायमूर्ति तुलजापुरकर ने यह निष्कर्ष निकाला कि उस संस्वीकारोक्तिपूर्ण कथन के आधार पर कार्यवाही करना सुरक्षित नहीं है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया : "मैंने जानबूझकर इकबाली साक्षियों के कथन (जिसकी विश्वसनीयता और प्रभाव के बारे में विनिश्चय करना विचारण न्यायालय का कार्य है) जैसे विवादपूर्ण साक्ष्य को विचार किए जाने के लिए सम्मिलित नहीं किया है जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह अभिकथित रूप से अन्वेषण करने वाले अत्यधिक

ईर्ष्यापूर्ण अधिकारियों द्वारा उस समय के बाद किया गया है जबकि प्रत्यर्थी सं० 2, 1977 में सत्ता से हट गया था।" वे दो अन्य परिस्थितियां जिनके आधार पर न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने कार्यवाही की है, ये हैं—

(i) जीवानंद झा द्वारा डा० जगन्नाथ मिश्र के बचत बैंक खाते में तारीख 27 दिसंबर, 1973 और 1 अप्रैल, 1974 को क्रमश: 10,000 रुपए और 3,000 रुपए जमा करवाए गए थे, और

(ii) तारीख 16 मई, 1975 के आदेश की तारीख बदल कर पहले की तारीख किया जाना।

40. इन परिस्थितियों में से जहां तक पहली परिस्थिति का संबंध है न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

"स्वीकार्यत: यह कई वर्षों से प्रत्यर्थी सं०2 का बहुत ही निकट व्यक्ति रहा है और वह उसके प्राइवेट और दल के कामकाजों की देखभाल कर रहा था और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसके विरुद्ध अभिकथन यह है कि उसका संबंध सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, पटना डाक बंगला शाखा में प्रत्यर्थी सं० 2 के बचत बैंक खाते में तारीख 27 दिसंबर, 1973 और 1 अप्रैल, 1974 को 10,000 रुपए और 3,000 रुपए की दो रकमों के निक्षेप से है जिसके बारे में अभियोजन ने कहा है कि ये राशियां रिश्वत की रकमें हैं जो प्रत्यर्थी सं०2 द्वारा प्राप्त की गई अभिकथित हैं, तथा प्रत्यर्थी सं०2 के लेखे में किए गए दो निक्षेपों के सबूत में स्पष्ट दस्तावेजी साक्ष्य में सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया की संबंधित शाखा में जमा करने की दो पर्चियां हैं। क्या ये दो रकमें पटना अर्बन कोआपरेटिव बैंक की निधि से आई हैं अथवा नहीं तथा क्या वे वास्तविक रूप से रिश्वत की रकमों के रूप में संदत्त की गई थीं अथवा नहीं, और यह एक ऐसा पहलू है जिस पर विचारण में विचार करना होगा।"

इस मताभिव्यक्ति के आधार यह कथन किया गया है कि वह किसी ऐसे बैंक खाते के किसी उद्धरण द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया था कि दोनों धन राशियां पटना शहरी विकास बैंक से प्राप्त हुई थीं। यदि ऐसा था तो बैंक खाते में प्रविष्टियां होनी चाहिए थीं। किसी विश्वसनीय साक्ष्य के बिना मात्र इस आधार पर कि किसी संबद्ध राजनैतिक व्यक्ति या मित्र के द्वारा बैंक खाते में दो धन राशियां जमा करवाई गई थीं स्वयं में यह दर्शित नहीं होता है कि वे धन राशियां रिश्वत के रूप में ली गई थीं या कोई कार्यालय से संबद्ध पक्षपात दर्शित किया गया था। अभियुक्त के अपराध के आधार पर यह तथ्य स्वयं में निश्चायक नहीं है।

41. जहां तक तारीख 16 मई, 1975 के आदेश की तारीख बदल कर पहले की तारीख किए जाने का संबंध है, इस ओर ध्यान दिया जाना होगा कि स्वयं न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने आदेश देते समय निम्न प्रकार मत व्यक्त किया—

"यह बात सही है कि किसी दस्तावेज या आदेश पर पहले की तारीख डालना कूटरचना के अपराध की कोटि में नहीं आएगा किंतु यदि दस्तावेज या आदेश पर ऊपर उल्लिखित गलत हेतुक या कपटपूर्ण आशय से पहले की तारीख डाली गई

1986(12) eILR(PAT) SC 41

है (जिसे कि वास्तविक रूप से पूरा न किया गया हो) तो वह कूटरचना होगी ।"

42. तारीख 16 मई, 1975 को पारित दो आदेशों के बारे में, पहला नोट शीट पर और दूसरा पीले कागज पर पारित किए गए थे जिन पर तारीख 14 मई, 1975 डाली गई हैं, कोई विवाद नहीं है। यह स्पष्ट किया गया है कि बिहार सचिवालय में यह परिपाटी प्रचलित है कि जब कभी किसी आदेश में परिवर्तन किया जाता है तो यह पूर्ववर्ती आदेश के ऊपर पीला कागज चिपका कर दिया जाता है। हमें बिहार सरकार की एक अन्य फाइल दिखाई गई थी जिस पर कि इसी प्रकार से कागज चिपकाया गया था। न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने यह मत व्यक्त किया कि यह परिणाम द्वितीय आदेश द्वारा हुआ था जो कि पूर्व तारीख का था तथा किसी भी कार्यवाही को अकृत या शून्य करने का स्पष्ट कपटपूर्ण आशय था । ऐसी कार्यवाही तारीख 16 मई, 1975 को मुख्यमंत्री के सचिवालय में फाइल छोड़ दिए जाने के पश्चात् प्रथम आदेश के अनुसरण में की गई है अथवा की जा सकती थी (यद्यपि वास्तविक रूप से न की गई हो) द्वितीय आदेश पूर्ववर्ती तारीख से करने के कृत्य से यही वास्तविक परिणाम हो सकता था।" अभियोजन पक्ष द्वारा यह दर्शित नहीं किया गया है कि विभागीय प्राधिकारियों के द्वारा तारीख 16 मई, 1975 के आदेश के अनुसरण में कोई कार्यवाही की गई थी। यदि कोई कार्यवाही की गई थी तो वह प्रस्तुत किए जाने के लिए अभिलेख के रूप में शीघ्र ही उपलब्ध कराई जानी चाहिए थी । न्यायालय के समक्ष ऐसा कोई अभिलेख प्रस्तुत नहीं किया है। अतः यह कहना मात्र कल्पना है कि ऐसी किसी कार्यवाही को अकृत करना ईप्सित था, विशेष रूप से उस समय जबकि किन्हीं विभागीय प्राधिकारियों के पास तारीख 16 मई, 1975 को भेजने से संबद्ध पत्र पर बिल्कुल भी स्वीकार्य साक्ष्य विद्यमान नहीं था। मैं भी अपने निर्णय के समर्थन में न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र द्वारा दिए गए कारणों को अपनाता हूं।

43. वास्तव में नवल किशोर सिन्हा और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध उनके द्वारा किए गए उन अपराधों के बारे में, जिनके बारे में अभिकथन किया गया है कि वे उनके द्वारा किए गए हैं, लगभग 23 आपराधिक मामले प्रारंभ किए गए थे। इसका उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इस मामले में जो प्रश्न अंतर्वलित हैं वे ये हैं कि क्या डा० जगन्नाथ मिश्र पटना शहरी सहकारी बैंक में किए गए गलत कामों के बारे में संसर्गी रहा है, क्या वह उसके सह-अभियुक्तों को षड्यंत्र और रिश्वत लेने के अपराधों के बारे में अभियोजित किया जाना चाहिए, और क्या लोक अभियोजक ने मामले को वापस लेने के लिए आवेदन करने में गंभीर गलती की थी। न्या० तुलज़ापुरकर के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायाधीशों ने, जिन्होंने विशेष न्यायाधीश के निर्णय के बाद गुणागुण के आधार पर मामले में कार्यवाही की थी, यह राय व्यक्त की कि वापस लिए जाने के लिए अनुज्ञा उचित रूप से दी गई थी। इन परिस्थितियों में इस मामले में भिन्न मत अपनाना कठिन है।

44. **राजेन्द्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**[1] वाले मामले में बंसी लाल और फर्नांडीज़ से संबद्ध मामलों के बारे में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर और न्यायमूर्ति चिन्नप्पा रेड्डी द्वारा स्पष्ट

---

[1] [1981] 2 उम० नि० प० 665=1980 (3) एस० सी० आर० 982.

किए गए अनुसार दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 से स्पष्ट होने वाली विधिक स्थिति के साथ मैं, सादर, सहमत हूं। उस मामले में न्यायमूर्ति चिन्नप्पा रेड्डी ने सही विधिक स्थिति को निम्न प्रकार सारांशित किया है—

"(1) संहिता की योजना के अधीन किसी अपराधी पर उसके गंभीर अपराध के लिए अभियोजन चलाना मूलतः कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है।

(2) अभियोजन वापस लेना लोक अभियोजक का कार्यपालक कृत्य है।

(3) अभियोजन वापस लेने का स्वनिर्णय का अधिकार लोक अभियोजक का होता है किसी और का नहीं। और इसलिए वह इस स्वनिर्णय के अधिकार को किसी और को सौंप नहीं सकता।

(4) सरकार लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने का सुझाव दे सकती है किंतु इसके लिए वह उसे मजबूर नहीं कर सकती।

(5) लोक अभियोजक अभियोजन को मात्र साक्ष्य की कमी के आधार पर ही नहीं अपितु कुछ अन्य सुसंगत आधारों पर और लोक न्याय, लोक व्यवस्था और शांति के महान् उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भी वापस ले सकता है। लोक न्याय के महान् उद्देश्य के अंतर्गत समुचित सामाजिक, आर्थिक और उसमें हम राजनीतिक प्रयोजन भी जोड़ देते हैं, सम्मिलित होंगे किंतु इसमें राजनीतिक भ्रष्टाचार को कोई स्थान नहीं मिलेगा।

(6) लोक अभियोजक न्यायालय का एक अधिकारी है और वह न्यायालय के प्रति उत्तरदायी है।

(7) न्यायालय अभियोजन वापस लेने के लिए अपनी अनुमति देते समय पर्यवेक्षी कृत्य करता है।

(8) न्यायालय का काम यह नहीं है कि वह उन आधारों का मूल्यांकन करे जिन पर लोक अभियोजन ने वापस लेने की पहल की है बल्कि उसका काम इस बात पर विचार करना है कि क्या लोक अभियोजक ने असंगत और बाहरी प्रभावों से प्रभावित हुए बिना स्वतंत्र अभिकर्ता के रूप में अपने मस्तिष्क का प्रयोग किया है। इस संबंध में न्यायालय का जिसे कि विधानमंडल का विश्वास प्राप्त है, और जो उसके न्यासी के रूप में कार्य करता है, यह विशेष कर्त्तव्य है कि वह चाहे तो अभियोजन वापस लिए जाने की स्वीकृति दे या न दे।

हम इसमें एक बात और जोड़ देना चाहते हैं कि लोक अभियोजक का यह कार्य होगा कि वह न्यायालय को यह सूचित करे और न्यायालय का यह भी कर्त्तव्य होगा कि वह स्वयं भी उन कारणों की जानकारी रखे जिनके आधार पर लोक अभियोजक अभियोजन वापस लेने की पहल करता है। दांडिक न्याय प्रशासन में न्यायालय का महान उत्तरदायित्व है और इसी प्रकार लोक अभियोजक इसका "न्याय-मंत्री" है। दोनों का ही यह कर्त्तव्य है कि वे कार्यपालिका द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की

1986(12) eILR(PAT) SC 41

धारा 321 के उपबंधों का सहारा लेकर दांडिक न्याय के विरुद्ध संभावित दुरुपयोग से प्रशासन की सुरक्षा करे। न्याय प्रणाली की स्वतंत्रता के लिए इस बात की आवश्यकता है कि न्यायालय में एक बार मामला पहुंचने के पश्चात् केवल न्यायालय और उसके अधिकारी ही उसका नियंत्रण संभालें और वही यह विनिश्चित करें कि उस मामले में क्या करना है और क्या नहीं करना है।"

45. इस मामले की परिस्थितियों में मेरे लिए यह कहना कठिन है कि लोक अभियोजक ने मामले के बारे में विचारपूर्वक कार्य नहीं किया है अथवा उसने स्वयं अनुचित तरीके से आचरण किया है। यदि उसके समक्ष की सामग्री को ध्यान में रखते हुए लोक अभियोजक ने यह मत अपनाया है कि अभियुक्त को दोषसिद्ध करना संभाव्य नहीं था तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त है। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि लोक अभियोजक के कार्य की प्रकृति किस प्रकार की होती है। वह कोई उत्पीड़क नहीं होता है। वह किसी संविवाद के बारे में किसी साधारण पक्षकार का प्रतिनिधित्व नहीं करता है किंतु उस सार्वभौम का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी बाध्यता पक्षपातरहित कार्य करने में उसी प्रकार से बाध्यताकारी है जैसे कि उसे साधारण स्थिति में कार्य करने की बाध्यता होती है और इसलिए उसका हित किसी आपराधिक अभियोजन में यह नहीं होता है कि वह मामले में विजय प्राप्त कर लेगा किंतु यह हित होता है कि न्याय किया जाएगा। इस प्रकार वह एक विशेष तथा निश्चायक भाव में देश का सेवक होता है जिसका दोहरा उद्देश्य यह होता है कि अपराधी नहीं बच पाएगा या निर्दोष को दंड नहीं दिया जाएगा। उसे पूरे बल और तन्मयता से अभियोजन करना होता है और वास्तव में उसे ऐसा करना भी चाहिए। परंतु जब वह दृढ़ता से कार्य कर रहा होता है तो उसे गलत कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं होती। उसका कर्त्तव्य उस अनुचित तरीके से दूर रहना होता है जो कि गलत दोषसिद्धि के लिए अपनाया जाता है क्योंकि उसे न्याय को उजागर करने के लिए प्रत्येक वैध तरीके को अपनाना होता है (देखिए **बरजर बनाम युनाइटेड स्टेट**[1])। किसी अभियुक्त का यह विशेषाधिकार होता है कि जब कभी राज्य द्वारा अभियोजन चलाया जाता है तो वह गंभीर आरोपों को अंतर्वलित करने वाले सभी मामलों में लोक अभियोजक द्वारा अभियोजित किया जाए। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 के अधीन किसी लोक अभियोजक के निर्णय में बहुत ही आसानी से हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, जब तक कि न्यायालय इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता कि उसने विचारपूर्वक कार्य नहीं किया है अथवा उसका विनिश्चय सद्भावपूर्ण नहीं है।

46. कोई व्यक्ति बहुत से अन्य गलत कार्यों के बारे में अभियुक्त हो सकता है, वह जनता के किसी वर्ग विशेष के लिए अभिशाप हो सकता है या वह कोई अविश्वसनीय राजनीतिज्ञ हो सकता है। परंतु ये परिस्थितियां उसके विरुद्ध किसी ऐसे आपराधिक आरोप पर विचार करते हुए न्यायालय के विनिश्चय में आड़े नहीं आनी चाहिएं जो कि अवश्य ही सुसंगत सामग्री पर आधारित होना चाहिए।

---

[1] *[1934] 295 यू० एस० 78,*

47. **बिहार राज्य बनाम राम नरेश पांडे**[1] और **राजेन्द्र कुमार जैन**[2] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित भलीभांति सुनिश्चित सिद्धांतों के आधार पर निर्णय किए जाने पर इस ओर ध्यान देना होगा कि आवेदन में किए गए प्रकथन, फर्नांडीज से संबद्ध मामले में वापस लिए जाने के लिए आवेदन में किए गए प्रकथनों के समान ही हैं, जो कि **राजेन्द्र कुमार जैन**[2] वाले मामले में पाए गए हैं। मैं यह महसूस करता हूं कि इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए कोई मामला नहीं बनाया गया है। मेरी यह भी राय है कि उस विधिक स्थिति से असहमति प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं है जो कि उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों में अभिव्यक्त की गई है। यदि विधि में कोई परिवर्तन करना आवश्यक है तो यह कार्य संसद् का है कि वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 में आवश्यक संशोधन करे। यह बात महत्वपूर्ण है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 को 1973 में भी उसी रूप में रहने दिया था। यद्यपि 1957 में इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 494 का अर्थान्वयन **राम नरेश पांडे**[1] वाले मामले में अधिकथित किए गए अनुसार किया था। तथापि मैं इस बात में कठिनाई अनुभव करता हूं कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 321 का अर्थान्वयन प्रशासनिक विधि के सिद्धांतों को ध्यान में रख कर किया जाए।

48. इस मामले को समाप्त करने से पूर्व मैं एक अन्य परिस्थिति के प्रति निर्देश करना चाहूंगा जो अपेक्षाकृत क्षुब्धकारी है। इस न्यायालय के समक्ष पुनर्विलोकन याचिका न्यायमूर्ति बहरूल इस्माल के सेवानिवृत्त हो जाने से पूर्व फाइल की गई थी। प्रकटतः याचिका को स्वीकार करवाने के लिए उनके विरुद्ध पूर्वाग्रह के अभिकथन किए गए थे। किंतु उसके बाद, इससे पूर्व ही कि न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन याचिका की सुनवाई करने पर अपना आदेश दिया जाए, उन्हें वापस ले लिया गया था। किंतु पुनः इस न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के दौरान एक ऐसा प्रयास किया गया था कि विद्वान् न्यायाधीश के विरुद्ध पूर्वाग्रह के अभिकथन को दोहराया जाए। किंतु न्यायालय द्वारा आपत्ति किए जाने पर उसे तत्काल वापस ले लिया गया था। अपीलार्थी की ओर से किया गया यह आचरण निंदा किए जाने के लायक है।

49. अपील के खारिज किए जाने के पश्चात् पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार केवल इसलिए कर लिया गया था क्योंकि **नंदिनी सत्पथी**[3] का मामला तत्पश्चात् पूर्ववर्ती विनिश्चयों के पुनर्विलोकन के लिए बृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित किया गया था। जबकि पूर्ववर्ती विनिश्चयों को ज्यों का त्यों रहने दिया था तो इस बात का कोई औचित्य नहीं है कि इस न्यायालय के उस विनिश्चय को उलट दिया जाए जिसके द्वारा कि अपील पहले ही खारिज कर दी गई थी। इस मामले में इस असाधारण प्रक्रिया को अपनाए जाने के लिए कोई औचित्य नहीं है। इस प्रक्रिया द्वारा इस न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय को उलटा जाना स्वयं में इस न्यायालय के निर्णयों की अंतिमता को ही प्रश्नगत करता है और इस न्यायालय

---

[1] [1957] एस० सी० आर० 279.

[2] [1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982.

[3] ए० आई० आर० 1987 एस० सी० 863=[1987] 1 एस० सी० सी० 269.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

में निहित पुनर्विलोकन की शक्ति के दुरुपयोग की कोटि में आता है, विशेष रूप से किसी आपराधिक मामले में। इस ओर ध्यान देना होगा कि आपराधिक मामलों में पुनर्विलोकन की शक्ति देश में किसी भी अन्य न्यायालय को नहीं दी गई है। मेरा यह मत है कि न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र के बहुमत निर्णय में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। इस मामले को इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय के विरुद्ध अपील के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

50. मामले के सभी पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् मैं न्यायमूर्ति खालिद के विनिश्चयों से सहमत हूं और उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई अपील खारिज करता हूं।

न्यायमूर्ति वी० खालिद के मतानुसार :

51. मुझे खेद है कि मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अब सुनाए गए निर्णय से, जिसका अंतिम भाग मुझे 18 दिसंबर, 1986 को प्राप्त हुआ था, सहमत नहीं हो सकता। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस मामले की बाबत, सितंबर, 1986 में इसे निर्णय के लिए आरक्षित रखने के पश्चात् उन न्यायमूर्तियों द्वारा, जिन्होंने इस मामले की सुनवाई की थी, विचार-विमर्श नहीं किया जा सका। यह तो मात्र संयोग की बात थी कि यह अपील एक संविधान-न्यायपीठ के समक्ष आई। 1983 की दांडिक अपील सं० 48 और 49 को मूलत: संविधान न्यायपीठ के समक्ष सूचीबद्ध करने का निदेश दिया गया था और इस अपील की सुनवाई भी संविधान न्यायपीठ द्वारा करने का निदेश दिया गया था क्योंकि इनमें एक जैसे प्रश्न अंतर्वलित थे। उन अपीलों को खारिज करते हुए निर्णय आज सुनाए जा रहे हैं। मैं निष्कर्ष से तो सहमत हूं किंतु दिए गए तर्क से सहमत नहीं हूं। मैंने समय की कमी के कारण यहां केवल संक्षिप्त निर्णय लिखा है। यह अपील अधिक समय से लंबित है। इसलिए मैं जल्दी से तैयार किया गया अपना निर्णय सुना रहा हूं ताकि इस मामले का निपटारा किया जा सके।

52. इस अपील का एक अरुचिकर इतिहास था। मुझे इस मामले में घटनाओं के परिवर्तित होने का दुःख है। फिर भी यह आवश्यक है कि घटनाओं के उक्त परिवर्तन पर विचार करने में अत्यधिक नियंत्रण बरता जाए क्योंकि यहां पर जो कुछ अंतर्ग्रस्त है वह देश के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में इस न्यायालय की विश्वसनीयता है। दो पूर्णत: तर्कसंगत सम्मत निर्णयों में न्यायमूर्ति बहरूल इस्माल और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र ने तारीख 16 दिसंबर, 1982 के अपने निर्णयों के द्वारा अपील खारिज कर दी थी और न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर ने एक समान रूप से तर्कसंगत निर्णय के द्वारा मुख्य निर्णय से विसम्मति प्रकट की और अपील मंजूर कर ली। ये निर्णय **शिवनन्दन पासवान** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में दिए गए थे। न्यायमूर्तियों में से एक (न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम) ने 13 जनवरी, 1983 को अपने पद से इस्तीफा दे दिया। 17 जनवरी, 1983 को निर्णय का पुनर्विलोकन करने के लिए एक आवेदन फाइल किया गया था। यह आवेदन केवल सम्मत निर्णयों के पुनर्निलोकन के लिए हो सकता है। 27 जनवरी, 1983 को विनिर्दिष्टत: पक्षपात पर आधारित अतिरिक्त

[1] [1983] 2 उम० नि० प० 897=[1983] 2 एस० सी० आर० 61.

आधार प्रस्तुत करने के लिए एक आवेदन फाइल किया गया था। पुनर्विलोकन आवेदन पर 13 अप्रैल, 1983 को न्यायालय कक्ष में विचार किया गया। एक नोटिस जारी किया गया था जो कि 19 अप्रैल, 1983 को वापसी के योग्य था। जुलाई, 1983 में मामले पर न्यायालय-कक्ष में पुन: विचार किया गया था जबकि पक्षपात के अभिकथन को छोड़ दिया गया था। अगस्त, 1983 में न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर, न्यायमूर्ति ए० एन० सेम और न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र द्वारा खुले न्यायालय में मामले की सुनवाई की गई थी। 22 अगस्त, 1983 को न्यायमूर्ति ए० एन० सेन द्वारा दिया गया आदेश [(1983) 4 एस० सी० सी० 104 पर प्रतिवेदित] निम्नलिखित शब्दों में था :—

> "अत: मैं पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार करता हूं और अपील की पुन: सुनवाई का निदेश देता हूं।"

विद्वान् न्यायाधीश ने, जिन्होंने यह आदेश दिया था, निम्नलिखित मताभिव्यक्ति के द्वारा अपने निष्कर्ष को न्यायोचित ठहराया —

> "वर्तमान कार्यवाही की सीमित परिधि के कारण मैं पक्षकारों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए विभिन्न निवेदनों पर विस्तार से विचार करना आवश्यक नहीं समझता हूं। इस मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर अत्यधिक उत्सुकता से और सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् अपनाए गए मत के अतिरिक्त मेरी राय यह है कि इस कार्यवाही में मेरे लिए उस पर कोई मत अभिव्यक्त करना उचित नहीं होगा। पुनर्विलोकन याचिका को शासित करने वाले सुस्थापित सिद्धांतों को लागू करने तथा इस मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर उत्सुकतापूर्वक और सावधानी से विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार की जानी चाहिए और अपील की पुन: सुनवाई की जानी चाहिए। मैं जानबूझकर अपने कारणों तथा उन विभिन्न आधारों का जिनके कारण मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, उल्लेख करने में विरत रहा हूं। तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर किए गए किसी विनिश्चय से जिसमें मेरे विचार से अभिलेख को देखने से ही त्रुटियां प्रकट होती हैं, और यह निष्कर्ष निकालने के मेरे कारणों से कि इन तथ्यों और परिस्थितियों में अभिलेख को देखने से ही त्रुटियां प्रकट होती हैं जिसके परिणामस्वरूप पुनर्विलोकन याचिका सफल हुई थी, अपील पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है, जिसकी मेरे विनिश्चय के परिणामस्वरूप पुन: सुनवाई की जानी है।"

विद्वान् न्यायाधीश ने पैरा 15 में निम्नलिखित निदेश दिया—

> "तदनुसार, इसके अतिरिक्त मैं यह निदेश देता हूं कि नंदिनी सत्पथी वाले मामले के विनिश्चय के पश्चात् अपील की तुरंत पुन: सुनवाई की जाए।"

अन्य न्यायाधीशों ने इससे सहमति व्यक्त की।

53. इस प्रकार उस न्यायपीठ ने, जिसने पुनर्विलोकन याचिका की सुनवाई की थी आदेश में वे कारण प्रकट नहीं किए थे जिनसे अपील की पुन: सुनवाई का आदेश दिया गया था न ही उसने पारित किए गए आदेश को न्यायोचित ठहराने के लिए आदेश में ऐसी कोई

रूप-रेखा प्रस्तुत की थी जिससे अभिलेख को देखने से ही त्रुटियां प्रकट हों। इस आदेश के द्वारा न्यायपीठ ने पूर्ववर्ती निर्णय को अपास्त नहीं किया था। जो कुछ किया गया था वह केवल पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करना तथा अपील की पुनः सुनवाई का निदेश देना था। न्यायालय के समक्ष जिस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक बहस की गई थी वह यह था कि क्या जिस निर्णय के पुनर्विलोकन की ईप्सा की गई है वह अपास्त किया गया था अथवा नहीं। यह बलपूर्वक तर्क दिया गया था कि पूर्ववर्ती निर्णय अपास्त नहीं किया गया था और अभी भी वह संपूर्ण है। इसके परिणामस्वरूप यह अभिवाक् किया गया कि यदि वह अपास्त नहीं किया गया था तो न्यायालय जिसकी अब सुनवाई करेगा, वह क्या है। मैं यहां पर इस दलील की परीक्षा करूंगा।

54. एक अविवाद्य तथ्य यह है कि पूर्ववर्ती आदेश वस्तुतः अपास्त नहीं किया गया था। पुनर्विलोकन याचिका को स्वीकार करना और उस आदेश को अपास्त करना, जिसके पुनर्विलोकन की ईप्सा की गई है, एक ही बात नहीं है।

55. सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 47, नियम 1 सिविल मामलों में पुनर्विलोकन से संबंधित है। संविधान के अनुच्छेद 137 के अधीन उच्चतम न्यायालय ने पास उसके द्वारा सुनाए गए किसी निर्णय अथवा किए गए किसी आदेश का पुनर्विलोकन करने की विशेष शक्ति है। किसी दांडिक मामले में पारित किसी आदेश का केवल सभी पुनर्विलोकन किया जा सकता है और उसे अपास्त किया जा सकता है जबकि अभिलेख से त्रुटियां प्रकट हों। इस मामले में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं कि किन कारणों अथवा आधारों से न्यायाधीश यह आदेश पारित करने के लिए प्रेरित हुए क्योंकि विद्वान् न्यायाधीश जानबूझकर आदेश में अपने कारणों और "विभिन्न आधारों" का उल्लेख करने से विरत रहे।

56. इस बात का निष्कर्ष एक महत्वपूर्ण तथ्य से निकाला जा सकता है कि निर्णय को अपास्त नहीं किया गया था। न्यायाधीशों में से एक ने, जो कि इस आदेश में पक्षकार थे (न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र) पहले ही युक्तियुक्त कारणों सहित अपील खारिज कर दी थी। यदि निर्णय पुनर्विलोकन याचिका में पारित आदेश के द्वारा अपास्त किया गया था, तो विद्वान् न्यायाधीश ने निश्चित रूप से ऐसा करने के लिए एक पृथक् आदेश द्वारा अपने कारण दिए होंगे। ऐसा नहीं किया गया है। आदेश में जो कथन किया गया वह यह है कि पुनर्विलोकन याचिका स्वीकार की गई थी। अतः अपील की पुनः सुनवाई का निदेश केवल इस बात का अवलोकन करने के लिए कारण अभिनिश्चित करना हो सकता है कि क्या निर्णय के अपास्त किए जाने की आवश्यकता है। मेरे विचार से यह दलील देना अतिसम्मान सहित विद्वान् न्यायाधीश (न्यायमूर्ति आर० बी० मिश्र) के प्रति अऋजु होगा कि उनका पूर्ववर्ती निर्णय अपास्त किया गया था।

57. अब इस गुत्थी को सुलझाने और मनुष्य के विचारों का अनुमान लगाने के असुखद कार्य का भार हमारे ऊपर छोड़ा गया है। मुझे अवश्य ही इस कार्य में अपनी असफलता स्वीकार करनी चाहिए। मैं लंबी दलीलों को सुनने के पश्चात् पूर्ववर्ती निर्णय में अभिलेख को देखने से ही प्रकट किसी त्रुटि को पाने में समर्थ नहीं हो सका। द्वितीय आदेश में दिया गया निदेश अपील की पुनः सुनवाई के लिए था। पुनर्विलोकन वाले आदेश द्वारा इस

आकांक्षा को अपास्त किया गया है और न ही दर्शाए गए अभिलेख को देखने से ही कोई त्रुटि दृष्टिगोचर होती है, मेरे वैचारिक मत के अनुसार मूल आदेश को कामय रखा जाना चाहिए, जिसका अर्थ यह है कि इसे अभिपुष्ट करते हुए अपील खारिज की जानी चाहिए। यही संक्षिप्त रीति है जिसके द्वारा यह अपील खारिज की जा सकती है और मैं ऐसा करता हूं तथापि अपील के इस रीति से किए गए निपटारे से संतुष्ट रहने की प्रस्थापना नहीं करता हूं।

58. इस मामले की विस्तार से सुनवाई की गई थी। अपीलार्थी द्वारा अपनाया गया आधार यह है कि पूर्ववर्ती निर्णय अपास्त किया गया है। इसलिए केवल यह उचित है कि मामले के तथ्यों और उनसे संबंधित विधि के प्रश्नों पर भी विचार किया जाए चूंकि मामला पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष रखा गया है।

59. इस न्यायपीठ को निर्दिष्ट की गई अपीलों में सांविधानिक विधि का कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। इस मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों और दो न्यायाधीशों की न्यायपीठों द्वारा दिए गए विनिश्चय हैं जिनमें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 (पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 494) पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया। दो दांडिक अपीलें, 1983 की 48 और 49 (**नंदिनी सत्पथी**[1] वाला मामला) मूलतः संविधान न्यायपीठ को निर्दिष्ट की गई थीं। उस न्यायपीठ को, जिसने ये अपीलें निर्दिष्ट की थीं, उन पूर्ववर्ती निर्णयों की शुद्धता के प्रति संदेह नहीं था। निर्देश का आदेश निम्नलिखित रूप में है—

> "दोनों मामलों में विशेष इजाज़त अनुदत्त की जाती है। याचिकाओं की सुनवाई के समय जिन भिन्न निर्वचनों वाले कतिपय विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया गया था, उनके कारण यह प्रतीत होता है कि दांडिक मामलों को वापस लेने की शक्ति से संबंधित विधि विवाद्यकों को स्पष्ट करने तथा उन्हें विवाद की सीमा से परे रखने के लिए यह बेहतर होगा कि मामला पांच न्यायाधीशों की बृहत्त न्यायपीठ के समक्ष रखने के लिए माननीय मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष पेश किया जाए।"

60. निर्देश के इसी आदेश तथा उस न्यायपीठ द्वारा जिसने पुनर्विलोकन याचिका की सुनवाई की थी, 1983 की दांडिक अपील सं० 48 और 49 में नंदिनी सत्पथी वाले मामले के विनिश्चय के तुरंत पश्चात् इस अपील की पुनः सुनवाई का निदेश देने के कारण यह मामला इस न्यायपीठ के समक्ष आया। यह घटनाओं का संयोग है जिसके प्रति मेरे द्वारा इस निर्णय के प्रारंभिक पैरा में निर्देश किया गया था।

61. इस अपील को उद्भूत करने वाले तथ्यों पर विस्तार से विचार करना आवश्यक नहीं है। तथ्यों की पृष्ठभूमि उस निर्णय में विस्तार से दी गई है, जिसके पुनर्विलोकन की ईप्सा की गई है। अतः मैं इस निर्णय को संपूर्ण तथ्यों से उलझाना आवश्यक नहीं समझता। मैं केवल उन तथ्यों के प्रति निर्देश करूंगा जो इस निर्णय के प्रयोजनार्थ आवश्यक हैं।

62. अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं० 2 प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दलों से संबद्ध थे। अपीलार्थी बिहार विधानसभा का एक सदस्य है। प्रत्यर्थी सं० 2 बिहार का मुख्यमंत्री था।

---

[1] ए० आई० आर० 1987 एस० सी० 863 = [1987] 1 एस० सी० सी० 269.

प्रत्यर्थी सं० 4 प्रत्यर्थी सं० 2 का एक निकट सहयोगी था। प्रत्यर्थी सं० 3 ने पटना नगरीय सहकारी बैंक (पटना अर्बन कोआपरेटिव बैंक) प्रारंभ किया और वह उसका अध्यक्ष बना। वह और प्रत्यर्थी सं० 2 घनिष्ट मित्र थे। बैंक के क्रियाकलापों में कुछ अनियमिततायें की गई थीं। उन अनियमितताओं के लिए बैंक से संबद्ध व्यक्तियों को अभियोजित करने के लिए कार्यवाही की गई थी। तत्कालीन मुख्यमंत्री (प्रत्यर्थी सं० 2) ने बैंक के अवैतनिक सचिव श्री के० पी० गुप्ता, प्रबंधक एम० ए० हैदरी और ऋण लिपिक सहित बैंक के पदाधिकारियों और कर्मचारिवृन्द के अभियोजन का आदेश दिया था।

63. मार्च, 1977 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के परिणामस्वरूप केंद्र में सरकार में परिवर्तन हुआ। अप्रैल, 1977 में पटना सचिवालीय अराजपत्रित कर्मचारी संघ ने द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध प्रधानमंत्री और संघ सरकार के गृहमंत्री को एक अभ्यावेदन प्रस्तुत किया। जून में द्वितीय प्रत्यर्थी के नेतृत्व वाली सरकार के स्थान पर श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व वाली सरकार प्रतिस्थापित की गई। कर्मचारी संघ ने 9 जुलाई, 1977 को नए मुख्यमंत्री से यह प्रार्थना करते हुए उन्हें अपने अभ्यावेदन की एक प्रति प्रस्तुत की कि द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की जांच कराई जाए। विस्तृत प्रक्रिया के पश्चात् तथा राज्यपाल से अपेक्षित मंजूरी अभिप्राप्त करने के पश्चात् सतर्कता विभाग द्वारा द्वितीय प्रत्यर्थी और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध एक दांडिक मामला संस्थित किया गया था। 19 फरवरी, 1979 को एक आरोप-पत्र फाइल किया गया था।

64. बिहार राज्य द्वारा 19 फरवरी, 1979 को प्रत्यर्थियों के विरुद्ध फाइल किया गया आरोप-पत्र भारतीय दंड संहिता की धारा 420/466/471/109/120-ख के अधीन तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(2) के साथ पठित धारा 5(1)(क), 5(1)(ख) और 5(1)(घ) के अधीन अपराधों के लिए था। द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध आरोप यह था कि उसने, जो कि सभी तात्विक समय पर या तो बिहार के मंत्री अथवा मुख्यमंत्री रहे, अन्य अभियुक्तों के साथ षड़यंत्र करके लोक सेवक के रूप में अपनी हैसियत का दुरुपयोग करते हुए, स्वयं को तथा अन्य प्रत्यर्थियों को पटना नगरीय सहकारी बैंक के लिए अहितकर, धन-संबंधी फायदा अभिप्राप्त करने के लिए नवल किशोर सिन्हा तथा अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दांडिक अभियोजन और अधिभारित (सरचार्ज) कार्यवाहियों में हस्तक्षेप करने की ईप्सा की। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने 29 जुलाई, 1979 को मामले का संज्ञान किया था।

65. जून, 1980 में बिहार मंत्रिमंडल में परिवर्तन हुआ और द्वितीय प्रत्यर्थी पुनः मुख्यमंत्री बने थे। 10 जून, 1980 को नीति संबंधी यह विनिश्चय किया गया था कि राजनीतिक द्वेष के कारण चलाए गए दांडिक मामले और राजनीतिक आंदोलन से संबंधित मामले वापस ले लिए जाएं। सरकार ने 24 फरवरी, 1981 को श्री एल० पी० सिन्हा को विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त किया। बिहार सरकार के सचिव ने 25 फरवरी, 1981 को जिला मजिस्ट्रेट को सतर्कता संबंधी दोनों मामलों को, जिनके अंतर्गत वह मामला भी है, जिससे हमारा संबंध है, अभियोजन से वापस लेने के सरकार के नीति संबंधी विनिश्चय के बारे में सूचित करते हुए एक पत्र लिखा। उनसे मामले को वापस लेने के लिए कदम उठाने का अनुरोध किया गया था। 17 जून, 1981 को श्री सिन्हा ने प्रत्यर्थी सं० 2, 3 और 4,

के अभियोजन को वापस लेने की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन विशेष न्यायाधीश को इन चार आधारों पर एक आवेदन किया : (क) साक्ष्य को देखते हुए सफल अभियोजन की संभाव्यता का अभाव, (ख) राजनैतिक और वैयक्तिक विद्वेष के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का आलिप्त किया जाना, (ग) राज्य और लोक नीति के कारणों से अभियोजन की असमीचीनता और (घ) अभियोजन के चालू रहने से बदली हुई स्थिति को देखते हुए लोकहित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना। विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने तारीख 20 जून, 1981 वाले अपने आदेश द्वारा ईप्सित सम्मति दे दी। उक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण फाइल किया गया था। यह 14 सितंबर, 1981 को खारिज किया गया था और इसकी खारिजी के कारण यह अपील उद्भूत हुई है।

66. वापसी के लिए आवेदन तथा सम्मति अनुदत्त करने वाले आदेश को निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी गई है—

(1) अभियोजन की वापसी गुणागुण के आधार पर अन्यायोचित थी।

(2) यह इस न्यायालय द्वारा विभिन्न विनिश्चयों में निर्धारित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले सिद्धांतों के विरुद्ध है।

(3) न तो लोक अभियोजक ने और न ही विशेष न्यायाधीश ने वापसी के लिए आवेदन करने में तथा सम्मति के लिए आदेश देने में अपने मनोनियोग से कार्य किया।

(4) श्री एल० पी० सिन्हा वापसी के लिए आवेदन करने में सक्षम नहीं थे चूंकि मामले का संचालन करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24(8) के अधीन की गई श्री ए० के० दत्ता की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी।

(5) मामले की परिस्थितियों को देखते हुए श्री सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं किया था बल्कि वे इस विषय में राज्य सरकार के विनिश्चय द्वारा प्रभावित और मार्गदर्शित थे और इसी कारण से वापसी दूषित थी।

67. मैं प्रथमत: प्रश्न सं० 4 का निपटारा करूंगा। इस बात पर विस्तार से विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या श्री सिन्हा वापसी के लिए आवेदन करने में सक्षम थे। दलील यह दी गई है कि श्री सिन्हा की नियुक्ति दोषपूर्ण है क्योंकि पहले से की गई श्री दत्ता की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी। इस दलील पर उन तीन न्यायाधीशों के समक्ष, जिन्होंने प्रथमत: अपील की सुनवाई की थी, जोर दिया गया था और इसे हमारे समक्ष भी दोहराया गया है। सभी तीनों न्यायाधीशों ने, जिन्होंने **शिवनंदन पासवान** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में निर्णय दिया था, इस अभिवाक् को स्वीकार करने से इंकार किया कि चूंकि श्री दत्ता की नियुक्ति रद्द नहीं की गई थी इसलिए श्री सिन्हा सक्षम लोक अभियोजक नहीं थे। मैं इस निर्णय में दिए गए कारणों को स्वीकार करता हूं तथा हमारे समक्ष दोहराए गए अभिवाक् को अस्वीकार करता हूं।

---

[1] [1983] 2 उम० नि० प० 897=[1983] 2 एस० सी० आर० 61.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

68. वास्तविक प्रश्न जिसका इस मामले में उत्तर दिया जाना है वह यह है कि वापसी के लिए आवेदन करने में लोक अभियोजक के कार्यपालक कृत्यों का तथा वापसी के लिए सम्मति अनुदत्त करने में न्यायालय के पर्यवेक्षी कृत्यों का उचित रूप पालन किया गया है अथवा नहीं। वस्तुतः ऊपर प्रगणित शेष चार मुद्दे इस प्रश्न के अंतर्गत आते हैं।

69. धारा 321 के अधीन विधिमान्य आदेश करने के लिए तीन अपेक्षाओं की पूर्ति आवश्यक है : (1) आवेदन ऐसे किसी लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक द्वारा फाइल किया जाना चाहिए, जो कि वापसी के लिए आवेदन करने में सक्षम है, (2) उसे अवश्य ही मामले का भारसाधक होना चाहिए, (3) आवेदन को उस न्यायालय की, जिसके समक्ष मामला लंबित है, सम्मति प्राप्त होनी चाहिए।

70. मेरा यह निष्कर्ष है कि यहां पर सभी तीनों अपेक्षाओं की पूर्ति हो गई है। प्रश्न यह है कि क्या लोक अभियोजक तथा न्यायालय द्वारा कृत्यों का उचित रूप से पालन किया गया था। किसी भी प्रक्रम पर किसी के द्वारा यह दलील नहीं दी गई थी कि लोक अभियोजक किया गया आवेदन या तो असद्भावपूर्ण था अथवा वह सद्भावपूर्वक नहीं किया गया था। विशेष न्यायाधीश के विरुद्ध पक्षपात का कोई अभिकथन नहीं था। लोक अभियोजक द्वारा फाइल किए गए आवेदन में यह तथ्य प्रकट किया गया है कि उन्होंने केस डायरी और मामले से संबंधित सुसंगत सामग्री की परीक्षा कर ली है और यह कि वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मामला संस्थित किए जाने और उसका अन्वेषण किए जाने के समय विद्यमान परिस्थितियों को देखते हुए, मामला राजनैतिक द्वेष के आधार पर तथा केवल जे० एन० मिश्र की प्रतिष्ठा को कम करने के लिए संस्थित किया गया था। लोक अभियोजक के इस अभिकथन को किसी दूषित हेतुक से उत्पन्न बताते हुए चुनौती नहीं दी गई है। यह साबित नहीं किया गया है अथवा यह इंगित नहीं किया गया है कि लोक अभियोजक अनुचित विचारों से प्रेरित हुए थे। जो एकमात्र दलील पेश की गई वह यह थी कि कारण पर्याप्त अथवा सुसंगत नहीं हैं।

71. लोक अभियोजक की धारा 321 के अधीन शक्ति के प्रयोग में उसकी निष्पक्षता पर विश्वास किया जाना चाहिए जबकि उसके विरुद्ध अनुचित रीति से कार्य करने का कोई आरोप न लगाया गया हो। उसके समक्ष राज्य सरकार द्वारा अपनाई गई नीति के बारे में उसकी संसूचना थी। उसके समक्ष केस डायरी का विवरण तथा अन्य सामग्री थी। उसने आवेदन फाइल करने से पूर्व उनका परिशीलन किया था। अतः इस मामले में धारा 321 के अधीन उसके कार्य का इस धारा के सर्वथा अनुरूप पालन किया गया था। इस प्रकार जो प्रश्न शेष रह जाता है वह यह है कि क्या वापसी के समर्थन में उसके द्वारा जिन आधारों पर जोर दिया गया था वे विधि की दृष्टि में पर्याप्त थे। आवेदन से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि श्री सिन्हा ने मामले के तथ्यों पर अपने मनोनियोग से कार्य किया था। सामान्यतः कोई व्यक्ति वापसी के आवेदन में उससे अधिक विस्तृत कथन की प्रत्याशा नहीं करेगा जितना कि प्रश्नगत आवेदन में अंतर्विष्ट हैं, जबकि वह धारा 321 की परिधि और उसमें प्रयोग की गई व्यापक भाषा को ध्यान में रखता है। इस मामले में यह अभिवाक् कि लोक अभियोजक द्वारा मनोनियोग की कमी थी, केवल अस्वीकार किया जाना है।

72. मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट विशेष न्यायाधीश के रूप में कार्य कर रहे थे। सम्मति देने वाले अपने आदेश में उन्होंने अभिव्यक्त रूप से यह कथन किया कि उन्होंने सम्मति अनुदत्त करने से पूर्व मामले के सुसंगत अभिलेख का परिशीलन किया था। उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका में इस कथन को चुनौती नहीं दी गई थी। इसलिए यह धारणा की जानी चाहिए कि मजिस्ट्रेट ने आदेश पारित करने से पूर्व सुसंगत अभिलेख का परिशीलन कर लिया था। हमें मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए इस कथन पर सम्यक् विश्वास करना चाहिए। विशेष न्यायाधीश के विरुद्ध कोई अन्य अभिकथन नहीं है। अतः विशेष न्यायाधीश के कृत्यों का भी धारा के अनुरूप पालन किया गया था। मामला पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय के समक्ष लाया गया। उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण खारिज कर दिया और ऐसा करते समय उसने अपनी शक्तियों का उचित रूप से प्रयोग किया क्योंकि न्यायालय के समक्ष जो सामग्री थी वह केवल खारिजी के आदेश को और न कि पुनः विचारण का आदेश देने वाला आदेश करने को न्यायोचित ठहराएगी।

73. धारा 321 लोक अभियोजक को निर्णय सुनाए जाने से पूर्व किसी भी प्रक्रम पर किसी मामले को वापस वापस लेने की शक्ति देती है। इससे इस तथ्य का पूर्वानुमान हो जाता है कि आवेदन करने से पूर्व मामले में संपूर्ण साक्ष्य पेश किया गया होगा। जब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन कोई आवेदन किया जाता है, तब न्यायालय के लिए यह पता चलाने के वास्ते साक्ष्य का निर्धारण आवश्यक नहीं है कि क्या मामले का अंत दोषसिद्धि में अथवा दोषमुक्ति में होगा। यह दलील देना कि न्यायालय को, जब वह धारा 321 के अधीन सम्मति देने की अपनी सीमित शक्तियों का प्रयोग करता है, साक्ष्य का निर्धारण करना होगा और यह पता लगाना होगा कि क्या मामले का अंत दोषमुक्ति अथवा दोषसिद्धि में होगा, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की पुनः रचना करना होगा और न्यायालय को ऐसी शक्ति प्रदान करना होगा जो कि धारा 321 की स्कीम अनुध्यात नहीं करती। धारा 321 के अधीन दोषमुक्ति अथवा उन्मोचन के आदेश दांडिक मामलों में किए गए प्रसामान्य अंतिम आदेश जैसे नहीं हैं। इस निष्कर्ष को दोषमुक्ति की दशा में साक्ष्य के विस्तृत विचार-विमर्श अथवा उन्मोचन की दशा में प्रथमदृष्ट्या मामले के अभाव अथवा आधारहीनता का समर्थन प्राप्त नहीं होगा। न्यायालय को जो कुछ देखना है वह यह है कि क्या आवेदन सद्भावपूर्वक, लोक नीति और न्याय के हित में किया गया है न कि विधि की प्रक्रिया को निष्फल करने या उसका दमन करने के लिए किया गया है। न्यायालय को मामले के इन पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह देखना होगा कि क्या आवेदन में ऐसे अनौचित्य अथवा अवैधताएं हैं जिससे यदि सम्मति दे दी जाए तो सुस्पष्ट अन्याय हो सकता है। इस मामले में वापसी के लिए किए गए आवेदन, सम्मति देने वाला आदेश तथा अन्य अनुवर्ती परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् मुझे यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वापसी के लिए आवेदन तथा सम्मति देने वाले आदेश उचित थे और सर्वथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की सीमाओं के अंतर्गत थे।

74. धारा 321 का अर्थान्वयन करते समय उसमें प्रयुक्त व्यापक पदावली, उसके पीछे स्कीम तथा उसके प्रवर्तन के क्षेत्र को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह सच है कि उसमें उन आधारों के बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं है जिन पर वापसी के लिए आवेदन किया जा

सकता है। किंतु इसे लागू करते समय हमें यह स्मरण रखना है कि वह किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए अधिनियमित की गई थी, और धारा में ऐसे शब्दों के प्रति संकेत करना जो कि उसमें नहीं है अथवा शर्तों और परंतुकों के रूप में बाधाओं द्वारा उसके प्रवर्तन को निर्बंधित करना उसकी भाषा और अंतर्वस्तु के प्रति अन्याय करना होगा। उसकी पूर्ववर्ती धारा 494 दंड प्रक्रिया संहिता के प्रारंभ से कानूनी पुस्तक में है। 1973 में जबकि संहिता संशोधित की गई थी, यह धारा पुनः संख्यांकित की गई थी और इस धारा में एकमात्र परिवर्तन यह किया गया था कि लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक के प्रति निर्देश करते समय "मामले का भारसाधक" शब्द जोड़े गए थे।

75. पुरानी संहितामें एक धारा अंतर्विष्ट थी जो कि महाधिवक्ता को उच्च न्यायालय को, जिसके समक्ष मामला लंबित है, निर्णय पर पहुंचने से पूर्व किसी भी प्रक्रम पर यह सूचित करने के लिए समर्थ बनाती थी कि वह इसके पश्चात् प्रतिवादी को आरोप के लिए अभियोजित नहीं करेगा। वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 333 थी। इस धारा के अधीन महाधिवक्ता का विवेकाधिकार आत्यंतिक था। वह किसी नियंत्रण के अध्यधीन नहीं था। जबकि महाधिवक्ता उच्च न्यायालय को यह सूचित करता है कि अभियोजन को चालू रखने की उसकी प्रस्थापना नहीं है तो उच्च न्यायालय के पास सभी कार्यवाहियों को रोकने और उस धारा के अनुसरण में कार्य करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। वह धारा अब संहिता से निकाल दी गई है। लोक अभियोजक अपेक्षाकृत कम आक्षेपणीय हैं और इसलिए धारा 321 के द्वारा उन्हें दिया गया विवेकाधिकार परिपूर्ण नहीं है और वह एक परिसीमा के अध्यधीन है तथा वह परिसीमा उस न्यायालय की सम्मति है, जिसके समक्ष अभियोजन लंबित है।

76. धारा 333, जो कि उच्च न्यायालय में मूल दांडिक विचारणों को रोकने के परिणामस्वरूप हटाई गई थी पूर्ववर्ती संहिता की धारा 494 की तत्स्थानी धारा 321 की परिधि पर विचार करते समय अभी भी आनुषंगिक है और दोनों धाराओं और उनकी परिधि का तुलनात्मक अध्ययन करना समुचित होगा। दोनों ही धाराएं, यद्यपि भिन्न स्तर पर, अभियोजनों की वापसी से संबंधित हैं। मेरे विचार से दोनों धाराओं का पठन करते समय एक सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण अभिभावी होना चाहिए। धारा 333 उच्च न्यायालय को उस समय कोई विवेकाधिकार या विकल्प नहीं देती जबकि उसके अधीन कोई समावेदन किया जाता है। ऐसी स्थिति होने के कारण धारा 321 का अर्थान्वयन अनिवार्यतः न्यायालय को परिसीमित सीमाओं के भीतर लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने की अनुज्ञा देने से इंकार करने की शक्ति प्रदत्त करने वाली धारा के रूप में भी किया जाना चाहिए। यदि ऐसा सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता है तो उससे यह विलक्षण स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि, जबकि धारा 333 के अधीन उच्च न्यायालय को महाधिवक्ता के अभ्यावेदन के समक्ष निस्सहाय होकर झुकना होगा और कार्यवाही रोकनी होगी और अभियुक्त को उन्मोचित या दोषमुक्त करना होगा किंतु अधीनस्थ न्यायालयों को, जबकि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन कार्यवाही की जाती है, अभियोजन वापस लेने के लिए सम्मति देने से इंकार करने की शक्ति होगी यदि उसकी राय यह हो कि मामले में साक्ष्य की कमी नहीं है। विधानमंडल का आशय पुरानी संहिता की क्रमशः धारा 494 और 333 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधीनस्थ न्यायालयों को उच्च न्यायालय से अधिक शक्तियां प्रदत्त करना नहीं होगा। अतः

यह अभिनिर्धारित करना न्यायोजित और युक्तियुक्त होगा कि अधीनस्थ न्यायालयों को धारा 494 के अधीन लोक अभियोजक को अभियोजन वापस लेने के लिए सम्मति देने की शक्तियां प्रदत्त करते समय विधानमंडल का आशय केवल यह था कि न्यायालयों को पर्यवेक्षी कृत्यों का और न कि उस पद के विधिक अर्थ में, न्यायनिर्णयन संबंधी कृत्यों का पालन करना चाहिए ।

77. धारा 321 निम्नलिखित रूप में है—

"321. **अभियोजन वापस लेना**—

किसी मामले का भारसाधक कोई लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक निर्णय सुनाए जाने के पूर्व किसी समय किसी व्यक्ति के अभियोजन को या तो साधारणतः का उन अपराधों में से किसी एक या अधिक के बारे, जिनके लिए उस व्यक्ति का विचारण किया जा रहा है, न्यायालय की सम्मति से वापस ले सकता है और ऐसे वापस लिए जाने पर—

(क) यदि यह आरोप विरचित किए जाने के पहले किया जाता है तो अभियुक्त ऐसे अपराध या अपराधों के बारे में उन्मोचित कर दिया जाएगा;

(ख) यदि वह आरोप विरचित किए जाने के पश्चात् या जब इस संहिता द्वारा कोई आरोप अपेक्षित नहीं है, तब किया जाता है तो वह ऐसे अपराध या अपराधों के बारे में दोषमुक्त कर दिया जाएगा ।"

(परंतुक का लोप किया गया)

यह धारा किसी मामले के भारसाधक लोक अभियोजक को निर्णय सुनाए जाने के पूर्व किसी समय किसी व्यक्ति के अभियोजन को वापस लेने के लिए समर्थ बनाती है किंतु वापसी के इस आवेदन को न्यायालय की सम्मति प्राप्त करनी होती है और यदि न्यायालय ऐसी वापसी के लिए सम्मति दे देता है तो अभियुक्त को, यदि उसके विरुद्ध कोई आरोप विरचित नहीं किया गया है, उन्मोचित किया जाएगा और यदि आरोप विरचित किया गया है अथवा जहां कि ऐसा कोई आरोप विरचित किया जाना अपेक्षित नहीं है, वहां उसे दोषमुक्त किया जाएगा । यह लोक अभियोजक को किसी अपराध के अभियुक्त किसी व्यक्ति के अभियोजन को दोनों ही दशाओं में, जबकि कोई साक्ष्य नहीं लिया गया हो अथवा चाहे संपूर्ण साक्ष्य ले लिया गया हो, वापस लेने की शक्ति प्रदान करती है । इस शक्ति के प्रयोग के लिए बाहरी सीमा "निर्णय सुनाए जाने के पूर्व किसी समय" है ।

78. इस धारा में उन आधारों के प्रति, जिन पर लोक अभियोजक आवेदन कर सकेगा या उन विचारों, जिन पर न्यायालय को अपनी सम्मति अनुदत्त करनी है, कोई संकेत नहीं किया गया है । पहल लोक अभियोजक की ओर से की जानी है और न्यायालय को जो कुछ करना है, वह केवल यह है कि उसे अपनी सम्मति देनी है और उसे किसी मामले का न्यायिक रूप से अवधारण नहीं करना है । सम्मति अनुदत्त करने के लिए न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग से विवक्षित न्यायिक कृत्य का सामान्यतः यह अभिप्राय होगा कि न्यायालय को अपना यह समाधान करना है कि लोक अभियोजक के कार्यपालक कृत्य का अनुचित रूप से प्रयोग नहीं किया गया है या कि यह अविधिसम्मत कारणों या प्रयोजनों के लिए न्याय के सामान्य अनुक्रम में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं है ।

79. न्यायालय का कृत्य सम्मति देना है। यह धारा न्यायालय पर सम्मति देने से पूर्व कारण अभिलिखित करने की बाध्यता नहीं डालती। तथापि मेरे द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया नहीं माना जाना चाहिए कि न्यायालय की सम्मति स्वाभाविक है। जब लोक अभियोजक अपने समक्ष प्रस्तुत सभी सामग्री पर विचार करने के पश्चात् वापसी के लिए आवेदन करता है, तो न्यायालय ऐसी सामग्री पर विचार करके अपने न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग करता है और इस प्रकार विचार करने के पश्चात् या तो सम्मति दे देता है या सम्मति देने से इंकार कर देता है। इस धारा का यह अभिप्राय लगाते हुए अर्थान्वयन नहीं किया जाना चाहिए कि न्यायालय को जबकि वह सम्मति देता है, एक विस्तृत तर्कसंगत आदेश करना होगा। यदि सम्मति देने वाले आदेश का अवलोकन करने पर किसी उच्चतर न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी सम्मति उपलब्ध सामग्री पर संपूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात् दी गई थी, तो सम्मति देने वाला आदेश आवश्यक रूप से कायम रखा जाना चाहिए।

80. धारा 321 के अधीन न्यायालय की शक्ति की परिधि की संहिता की कुछ अन्य धाराओं के साथ तुलना करना लाभदायक होगा। संहिता में कुछ ऐसे उपबंध हैं जो उस रीति से संबद्ध हैं जिसमें न्यायालयों को लंबित मामलों में अपनी अधिकारिता का प्रयोग करना होगा जबकि उनकी वापसी के लिए आवेदन किए जाते हैं अथवा जबकि न्यायालय का यह निष्कर्ष हो कि मामलों पर कार्यवाही करने के लिए कोई आधार नहीं है। धारा 203, 227, 245, 257 और 258 ऐसी ही कुछ धाराएं हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 मजिस्ट्रेट को प्रारंभिक प्रक्रम पर ही परिवाद खारिज करने के लिए सशक्त करती हैं यदि उसकी यह राय हो कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है। किंतु ऐसा करने से पूर्व मजिस्ट्रेट से ऐसा करने के लिए अपने कारणों को संक्षेप में लेखबद्ध करने की अपेक्षा की जाती है। वह धारा निम्न प्रकार से है—

> "203. **परिवाद का खारिज किया जाना**—
>
> यदि परिवादी के और साक्षियों के शपथ पर किए गए, कथन पर (यदि कोई हो), और धारा 202 के अधीन जांच या अन्वेषण के (यदि कोई हो) परिणाम पर विचार करने के पश्चात्, मजिस्ट्रेट की यह राय है कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है तो वह परिवाद को खारिज कर देगा और ऐसे प्रत्येक मामले में वह ऐसा करने के अपने कारणों को संक्षेप में अभिलिखित करेगा।"

81. धारा 245 (1) मजिस्ट्रेट को किसी अभियुक्त को, जबकि उसके विरुद्ध कोई मामला सिद्ध नहीं हुआ है, उन्मोचित करने की शक्ति से संबंधित है। तथापि यह धारा मजिस्ट्रेट पर अभियुक्त को उन्मोचित करने से पूर्व अपने कारण लेखबद्ध करने की बाध्यता अधिरोपित करती है। धारा 245 (1) निम्न प्रकार से है—

> "यदि धारा 244 में निर्दिष्ट सब साक्ष्य लेने पर मजिस्ट्रेट का, उन कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार है कि अभियुक्त के विरुद्ध ऐसा कोई मामला सिद्ध नहीं हुआ है जो अखंडित रहने पर उसकी दोषसिद्धि के लिए समुचित आधार हो तो मजिस्ट्रेट उसको उन्मोचित कर देगा।"

यह धारा मजिस्ट्रेट को ऐसे मामलों में जहां कि उसका यह विचार हो कि अभियुक्त को उन्मोचित किया जाना चाहिए, उसे उन्मोचित करने की शक्ति देती है किंतु यह शक्ति ऐसा करने के

लिए उसके कारण लेखबद्ध करने की बाध्यता से नियंत्रित है। यदि उन्मोचन के किसी आदेश के कारण लेखबद्ध नहीं किए जाते हैं तो वह आदेश धारा की आज्ञा का अतिक्रमणकारी होगा।

82. धारा 245(2) मजिस्ट्रेट को इस मामले के "किसी पूर्वतन प्रक्रम में" भी किसी अभियुक्त को उन्मोचित करने के लिए समर्थ बनाती है यदि उसका यह विचार हो कि अभियुक्त के विरुद्ध आरोप निराधार हैं। उपधारा (1) उस अवस्था में व्यवहृत होती है जबकि धारा 244 में निर्दिष्ट सब साक्ष्य लिए गए हों। धारा 244 पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित किसी वारंट मामले में लिए गए साक्ष्य के संबंध में है। मजिस्ट्रेट केवल तभी जबकि ऐसे सब साक्ष्य लिए गए हों अभियुक्त को धारा 245(1) के अधीन उन्मोचित कर सकता है, जबकि धारा 245(2) ऐसे मामले को व्यवहृत होती है जिसमें धारा 244 में निर्दिष्ट साक्ष्य न लिए गए हों। पुनः यहां पर भी मजिस्ट्रेट द्वारा उन्मोचन के आदेश के समर्थन में उन्मोचन के लिए कारण होने चाहिएं। धारा 245(2) निम्नलिखित रूप में हैं—

> "इस धारा की कोई बात मजिस्ट्रेट को मानले के किसी पूर्वतन प्रक्रम में अभियुक्त को उस दशा में उन्मोचित करने से निवारित करने वाली न समझी जाएगी जिसमें ऐसा मजिस्ट्रेट ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार करता है कि आरोप निराधार है।"

दोनों उपधाराओं में से किसी के अधीन किया गया उन्मोचन का आदेश केवल तभी कायम रह सकता है यदि मजिस्ट्रेट ने उन्मोचन के लिए अपने कारण अभिलिखित कर दिए हों।

83. अध्याय 20 में धारा 257 किसी मजिस्ट्रेट द्वारा समन-मामलों के विचारण से संबंधित है और उसमें परिवादों को वापस लेने का उपबंध है वह निम्न प्रकार पठित है—

> "257. **परिवाद को वापस लेना**—
>
> यदि परिवादी किसी मामले में इस अध्याय के अधीन अंतिम आदेश पारित किए जाने के पूर्व किसी समय मजिस्ट्रेट का समाधान कर देता है कि अभियुक्त के विरुद्ध, या जहां एक से अधिक अभियुक्त है वहां उन सब या उनमें से किसी के विरुद्ध उसका परिवाद वापस लेने की उसे अनुज्ञा देने के लिए पर्याप्त आधार है तो मजिस्ट्रेट उसे परिवाद वापस लेने की अनुज्ञा दे सकेगा और तब उस अभियुक्त को, जिसके विरुद्ध परिवाद इस प्रकार वापस लिया जाता है, दोषमुक्त कर देगा।"

इस धारा की शब्दावली भी धारा 321 की शब्दावली से महत्वपूर्ण रूप से भिन्न हैं। जब कोई परिवादी अभियुक्त के विरुद्ध अपना परिवाद वापस लेना चाहता है तो मजिस्ट्रेट केवल तभी उसे परिवाद वापस लेने की अनुज्ञा दे सकता है और उस अभियुक्त को, जिसके विरुद्ध परिवाद इस प्रकार वापस लिया गया है, दोषमुक्त कर सकता है जबकि वह मजिस्ट्रेट का यह समाधान कर देता है कि उसका परिवाद वापस लेने की उसे अनुज्ञा देने के लिए पर्याप्त आधार हैं। दूसरे शब्दों में, परिवादी अपना परिवाद अपने प्रसादानुसार वापस नहीं ले सकता न ही मजिस्ट्रेट उसे ऐसा करने की अनुज्ञा दे सकता है जब तक कि स्वयं मजिस्ट्रेट का यह समाधान न हो गया हो कि परिवाद वापस लेने के लिए पर्याप्त आधार हैं। इस प्रकार यह

1986(12) eILR(PAT) SC 41

धारा ऐसे आदेश को अनुध्यात करती है जिसमें परिवाद वापस लेने की अनुज्ञा देने के लिए मजिस्ट्रेट का समाधान करने के वास्ते पर्याप्त आधार प्रकट किए गए हों। इस धारा के अधीन मजिस्ट्रेट को प्रदत्त शक्ति यह सुनिश्चित करने के लिए है कि परिवादी किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध मिथ्या या तंग करने वाला परिवाद फाइल करके और अभियुक्त को पर्याप्त रूप से उलझाने या तंग करने के पश्चात् अभियुक्त द्वारा परिवाद फाइल करके विद्वेषपूर्ण अभियोजन के लिए किए गए परिवाद या वाद के परिणामों से बचने की दृष्टि से परिवाद वापस लेकर विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग न करे।

84. उसी अध्याय में दंड प्रक्रिया के संहिता की धारा 258 कुछ मामलों में कार्यवाही रोक देने की मजिस्ट्रेट की शक्ति से संबंधित है जिसका पठन भी उपयोगी हो सकता है :—

> "258. **कुछ मामलों में कार्यवाही रोक देने की शक्ति**—
>
> परिवाद से भिन्न आधार पर संस्थित किसी समन-मामले में कोई प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट, अथवा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की पूर्व मंजूरी से कोई अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ऐसे कारणों से, जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जायेंगे, कार्यवाही को किसी भी प्रक्रम में कोई निर्णय सुनाए बिना रोक सकता है और जहां मुख्य साक्षियों के साक्ष्य को अभिलिखित किए जाने के पश्चात् इस प्रकार कार्यवाहियां रोकी जाती हैं वहां दोषमुक्ति का निर्णय सुना सकता है और किसी अन्य दशा में अभियुक्त को छोड़ सकता है और ऐसे छोड़ने का प्रभाव उन्मोचन होगा।"

यह धारा कार्यवाही को किसी प्रक्रम में कोई निर्णय सुनाए बिना रोक देने और अभियुक्त को, यथास्थिति, दोषमुक्त या उन्मोचित करने के बारे में है किंतु धारा मजिस्ट्रेट को ऐसा करने के कारण अपने कारणों को अभिलिखित करने का आदेश करती है। मजिस्ट्रेट अपने कारणों को अभिखिलित किए बिना इस धारा के अधीन कार्यवाही नहीं रोक सकता। सेशन मामले में भी सेशन न्यायालय धारा 227 के अधीन उन्मोचन की अपनी शक्तियों का प्रयोग उसके लिए कारण लेखबद्ध किए बिना, नहीं कर सकता। धारा 227 निम्नलिखित शब्दों में है :—

> "यदि मामले के अभिलेख और उसके साथ दी गई दस्तावेजों पर विचार कर लेने पर, और इस निमित्त अभियुक्त और अभियोजन के निवेदन की सुनवाई कर लेने के लिए पश्चात् न्यायाधीश यह समझता है कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है तो वह अभियुक्त को उन्मोचित कर देगा और ऐसा करने के अपने कारणों को लेखबद्ध करेगा।"

अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त धाराओं की स्कीम धारा 321 की स्कीम से भिन्न है।

85. धारा 321 की परिधि का परीक्षण एक अन्य दृष्टिकोट से अर्थात् धारा 320 के प्रति निर्देश करके किया जा सकता है जो कि "अपराधों के शमन" के संबंध में है। ये दोनों धारायें अध्याय 24 में "जांचों तथा विचारणों के बारे में साधारण उपबंध" शीर्षक के अंतर्गत आती हैं। धारा 320(1) सारणी में उल्लिखित उन अपराधों के शमन से संबंधित है जो कि गंभीर प्रकृति के नहीं है जबकि धारा 320(2) ऐसे अपराधों से संबंधित है जो कि

किंचित गंभीर प्रकृति के हैं किंतु गंभीर अपराध गठित नहीं करते। धारा 320(1) के अधीन सारणी में उल्लिखित अपराधों का शमन न्यायालय की अनुज्ञा के बिना सारणी के तृतीय स्तंभ में उल्लिखित व्यक्तियों द्वारा किया जा सकेगा और धारा 320(2) के अधीन सारणी-2 में उल्लिखित अपराधों का शमन केवल न्यायालय की अनुज्ञा से किया जा सकता है। उपधारा 4(क) के अधीन जब कोई व्यक्ति, जो धारा 320 के अधीन अपराध का शमन करने के लिए अन्यथा सक्षम होगा, 18 वर्ष से कम आयु का है या जड़ या पागल है तब कोई व्यक्ति जो उसकी ओर से संविदा करने के लिए सक्षम हो, न्यायालय की अनुज्ञा से, ऐसे अपराध का शमन कर सकता है। उपधारा 4(ख) में यह उपबंध किया गया है कि जब कोई व्यक्ति जो इस धारा के अधीन अपराध का शमन करने के लिए अन्यथा सक्षम होगा, मर जाता है तब ऐसे व्यक्ति का सिविल प्रक्रिया संहिता में यथा-परिभाषित, विधिक प्रतिनिधि, न्यायालय की सम्मति से ऐसे अपराध का शमन कर सकता है।

86. इन दोनों उपधाराओं में "न्यायालय की अनुज्ञा से" और "न्यायालय की सम्मति से" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है जो कि न्यूनाधिक रूप से उसी किस्म या प्रकार की हैं। उपर्युक्त उपधाराओं का उचित अध्ययन करने पर निरापद रूप से यह उपधारणा की जा सकती है कि ये धाराएं न्यायालय को उनमें उपदर्शित रीति में इस रक्षोपाय के साथ अपराधों का शमन करने के मामले में केवल पर्यवेक्षी शक्ति प्रदत्त करती हैं कि अभियुक्त अनुचित या प्रवंचनापूर्ण उपायों के द्वारा अपराध का उपशमन सुनिश्चित न कर ले। इस प्रकार दृष्टिपात करने पर मैं यह नहीं समझता कि सफलतापूर्वक यह अभिवाक् किया जा सकता है कि किसी अपराध के शमन के लिए उपधारा 4(क) अथवा 4(ख) के अधीन अनुज्ञा अनुदत्त करने या सम्मति देने के लिए न्यायालय को यह आदेश दिया जाए कि वह यह समाधान करने के लिए कि मामले का परिणाम दोषमुक्ति या दोषसिद्धि होगा, साक्ष्य का वास्तविक विस्तृत मूल्यांकन अथवा मामले का निर्धारण करे। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अपराध के शमन के लिए आवेदन किसी भी प्रक्रम में किया जा सकता है। चूंकि धारा 321 इस अध्याय में धारा 320 के तुरंत पश्चात् आती है, इसलिए कोई भी व्यक्ति यह कथन करने में कि इसका आभास इससे ठीक पूर्ववर्ती धारा से होना चाहिए और यह अभिनिर्धारित करने में न्यायोचित होगा कि इस धारा में, जो कि धारा 320 के सदृश है, न्यायालय द्वारा केवल पर्यवेक्षी रीति से न कि आवश्यक रूप से न्यायनिर्णयन की रीति से सम्मति अनुध्यात है, सम्मति अनुदत्त करना विचारण की समाप्ति पर सफलता की सीमा का अवलोकन करने के लिए साक्ष्य के महत्व अथवा परिमाण के विस्तृत निर्धारण पर आधारित नहीं है। न्यायालय के लिए जो कुछ ध्यान में रखना आवश्यक है वह इस बात को सुनिश्चित करना है कि वापसी के लिए आवेदन लोक अभियोजक द्वारा स्वतंत्र रूप से विचार करने के पश्चात् उचित रूप से और लोक हित को अग्रसर करने के लिए किया गया है।

87. मैंने इन धाराओं के प्रति निर्देश धारा 321 और दांडिक मामलों को वापस लेने अथवा उन्मोचित करने अथवा कार्यवाही रोक देने के आदेशों से संबंधित संहिता की अन्य धाराओं के मध्य प्रभेद पर जोर देने के लिए केवल दृष्टांत-स्वरूप किया है। उपर्युक्त धाराओं के प्रति निर्देश करने का मेरा प्रयोजन केवल यह दर्शित करना है कि धारा 321,

उसमें प्रयुक्त व्यापक भाषा को ध्यान में रखते हुए, लोक अभियोजक को किसी अभियुक्त के अभियोजन को वापस लेने के लिए समर्थ बनाती है, जिसके अधीन प्रयोग किया जाने वाला विवेकाधिकार न्यायालय द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री पर विचार करने के पश्चात् और वह भी मामले के किसी भी प्रक्रम में दी गई सम्मति मात्र से नियंत्रित है। यह धारा मजिस्ट्रेट द्वारा सम्मति देते समय एक तर्कसंगत आदेश देने पर जोर नहीं देती। इस धारा की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है वह केवल यह देखना है कि लोक अभियोजक ने सद्भावपूर्वक कार्य किया है और यह कि मजिस्ट्रेट का यह समाधान हो गया है कि लोक अभियोजक द्वारा प्रयोग किया गया विवेकाधिकार उचित है।

88. धारा 321 के अधीन सम्मति देने वाले आदेश के विरुद्ध अपील करने के लिए अधिनियम में कोई उपबंध नहीं है। किंतु यह आदेश दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण योग्य है। धारा 397 उच्च न्यायालय अथवा सेशन न्यायाधीश को किसी निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में और किसी अवर न्यायालय की कार्यवाहियों की नियमितता के बारे में अधिकारिता प्रदान करती है। किसी निष्कर्ष या किसी परिणाम की वैधता, औचित्य अथवा शुद्धता पर विचार करते समय पुनरीक्षण न्यायालय मामले के तथ्यों और साक्ष्य का विस्तारपूर्वक निरूपण नहीं करता। पुनरीक्षण न्यायालय सामग्री पर केवल निष्कर्ष, दंडादेश की शुद्धता, वैधता और औचित्य के संबंध में अपना समाधान करने के लिए विचार करता है और वह साक्ष्य पर विस्तार से विचार करने के पश्चात् निकाला गया अपना निष्कर्ष प्रतिस्थापित करने से विरत रहता है।

89. धारा 321 के अधीन पारित किसी आदेश को भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत द्वारा इस न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। इस प्रकार अपील हमारे समक्ष आई है। इस न्यायालय की यह घोषित नीति है कि इस प्रकार के मामलों अथवा उन्मोचन के विरुद्ध किए गए आदेश में भी तथ्यों और साक्ष्य की निरुद्देश्य जांच प्रारंभ न की जाए। यह न्यायालय स्वयं को तथ्यों और साक्ष्य के न्यायालय में संपरिवर्तित करने के लिए अनुज्ञात नहीं करेगा। यह न्यायालय कभी-कभार साक्ष्य और तथ्यों पर विचार करता है। यह बात ऐसी है जैसी कि होनी चाहिए। इस हितकारी स्वगृहीत प्रतिबंध से कोई विचलन लाभप्रद प्रक्रिया नहीं है और मैं भी इसकी सिफारिश नहीं करता। इस न्यायालय के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय के रूप में मामले के गुणागुण के आधार पर या तथ्यों और साक्ष्य के आधार पर की गई ऐसी कोई मताभिव्यक्ति, जो कि निचले न्यायालयों द्वारा व्यक्त मत के प्रतिकूल होगी, प्रभावित पक्षकार पर गंभीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालेगी और इस न्यायालय की यह नीति होनी चाहिए कि इस प्रतिषिद्ध आधार की अवहेलना न की जाए और अरुचिकर किंतु न्यायसंगत आलोचना को आमंत्रित न किया जाए। क्या इस न्यायालय को यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि दोषमुक्ति अथवा दोषसिद्धि के लिए कोई मामला है अथवा नहीं साक्ष्य का निर्धारण करना है और स्वयं को एक विचारण न्यायालय के रूप में संपरिवर्तित करना है ? अथवा क्या इस न्यायालय को यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि क्या मामले की समाप्ति दोषमुक्ति या दोषसिद्धि में होगी, पुनः विचारण और सैकड़ों साक्षियों की परीक्षा.

करने का आदेश करना है ? इन दोनों निष्कर्षों में से प्रत्येक धारा 321 की परिधि के बाहर है। ऐसा केवल तभी किया जा सकता है यदि हम धारा 321 की पुनः रचना करें।

90. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 वस्तुतः अपराध के शमन के तौर पर राज्य द्वारा उठाया गया एक कदम है। राज्य दांडिक मामलों में मुकदमेबाजी का स्वामी है। यह स्मरण रखना उपयोगी है कि धारा 321 के अधीन कृत्यों का प्रयोग करने से संबद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। यदि कोई पक्षकार अभियोजन की वापसी से व्यथित है तो प्राइवेट परिवाद भी फाइल किया जा सकता है किंतु तब विद्वेषपूर्ण अभियोजन के बाद का संभावित जोखिम बना रहेगा, यदि परिवाद में कोई आधार नहीं पाया गया।

91. चूंकि धारा 321 में उन आधारों के संबंध में कोई मार्गदर्शन नहीं दिया गया है जिन पर वापसी के लिए आवेदन किया जा सकता है, ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांत इस धारा तथा इसकी पूर्ववर्ती धारा 494 के अधीन विनिश्चित मामलों के प्रति निर्देश करके अभिनिश्चित किए जाने हैं। मैं अपने समक्ष उद्धृत की गई सब नजीरों पर इस कारण से विचार करने की प्रस्थापना नहीं करता कि इस न्यायालय को अपने कई विनिश्चयों में इस प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करने का अवसर मिला। यह कहना पर्याप्त होगा कि विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों में, लोक नीति, प्रशासन का हित, राज्य के कारणों से अभियोजन की कार्यवाही चलाने की असमीचीनता और साक्ष्य की कमी उन विनिश्चयों में मामलों के विशिष्ट तथ्यों और उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करते हुए कई मामलों में वापसी के लिए उचित आधार समझे गए थे और कतिपय अन्य मायलों में वापसी के लिए उचित आधार नहीं समझे गए थे। **गिरीबाला दासी** बनाम **मदर गाजी**[1], **एम्परर** बनाम **शीतल दास**[2], **हरीहर सिन्हा** बनाम **एम्परर**[3], **किंग** बनाम **मौला बख्श और अन्य**[4], **अमर नारायण माथुर** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[5] और **बावा फकीर सिंह** बनाम **एम्परर**[6] वाले मामले ऐसे कुछ मामले हैं जो कि हमारे ध्यान में लाए गए थे।

92. **बिहार राज्य** बनाम **राम नरेश पांडे**[7] वाला मामला एक ऐतिहासिक मामला है जिसमें यथार्थता और निश्चितता के साथ इस विषय पर विधि अधिकथित की गई है। इस विनिश्चय में न्यायालय और लोक अभियोजक के कृत्यों का यथोचित वर्णन किया गया है। न्यायालय की भूमिका पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की थी—

> "ऐसे मामलों में उसके विवेकाधिकार का प्रयोग आवश्यक रूप से ऐसी सामग्री के प्रति निर्देश से किया जा सकता है जो कि उस समय तक उपलब्ध हो और यह किसी विनिर्दिष्ट विवाद्यक का प्रथमदृष्टया न्यायिक अवधारण नहीं है। इन मामलों में

---

[1] ए० आई० आर० 1932 कलकत्ता 699.
[2] ए० आई० आर० 1943 सिंध 161.
[3] ए० आई० आर० 1936 कलकत्ता 356.
[4] ए०आई० आर० 1949 पटना 233.
[5] ए० आई० आर० 1952 राजस्थान 42.
[6] ए० आई० आर० 1938 प्रिवी कौंसिल 266.
[7] [1957] एस० सी० आर० 279.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

मजिस्ट्रेट के कृत्य उच्च स्तर पर कार्यपालिका के कृत्यों के अनुपूरक मात्र नहीं हैं बल्कि वे दुरुपयोग को रोकने के लिए आशयित हैं। धारा 494, जिसमें लोक अभियोजक द्वारा वापसी के लिए न्यायालय की सम्मति की अपेक्षा की गई है, न्यायालय द्वारा जांचों और विचारणों से संबंधित संहिता के उपबंधों की बजाए इस स्कीम के अधिक अनुरूप है। विचारणीय विवाद्यक के प्रथमदृष्टता अवधारण के लिए न्यायालय पर उत्तरदायित्व नहीं डाला जा सकता। उदाहरण के लिए, उसके परिणामस्वरूप किया गया उन्मोचन धारा 209(1) और 253(1) के अधीन "कोई प्रथमदृष्टया मामला नहीं" अथवा धारा 209(2) और 253(2) के अधीन "आधारहीनता" के स्तर के सर्वदा अनुरूप होना आवश्यक नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि लोक अभियोजक के आवेदन करने पर सम्मति उन आधारों की, जिन पर सम्मति के लिए आवेदन किया गया है, सावधानी से और उचित संवीक्षा किए बिना, सहज ही दी जानी चाहिए।"

इस विनिश्चय का इस न्यायालय द्वारा **एम० एन० शंकर नारायणन् नायर बनाम पी० वी० बालकृष्णन् और अन्य**[1] वाले मामले में अनुमोदन किया गया था जैसा कि पृष्ठ 606 से दर्शित होता है :—

"......... बिहार राज्य **बनाम** रामनरेश पांडे (1957) एस० सी० आर० 279 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह बताया था कि यद्यपि संबंधित धारा इस आधार के संबंध में कोई भी संकेत नहीं करती है जिस पर कि लोक अभियोजक ऐसा आवेदन कर सकता है जिस पर विचार किए जाने पर न्यायालय को अपनी सम्मति अनुदत्त करनी पड़ती है तथापि फिर भी उसे चाहिए कि वह अपना यह समाधान कर ले कि अभियोजक के कार्यपालक कृत्य का अनुचित रूप से प्रयोग नहीं किया गया है और यह कि वह अवैध कारणों या प्रयोजनों के लिए न्याय के प्रसामान्य अनुक्रम में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं है।........."

93. अब मैं इस बात को समझने के लिए उद्धृत किए गए कुछ अन्य मामलों के प्रति संक्षेप में निर्देश करूंगा कि किस प्रकार न्यायालयों ने प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करते हुए धारा 321 की परिधि पर विचार किया।

94. **बंसी लाल** बनाम **चंदन लाल**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने **एम० एन० शंकर नारायणन् नायर** बनाम **पी० वी० बालष्णकृन और अन्य**[1] वाले मामले में अपने पूर्ववर्ती विनिश्चय का अनुसरण किया था जिसमें क्रम से **बिहार राज्य** बनाम **रामनरेश पांडे**[3] वाले मामले का अनुसरण किया गया था और सम्मति देने से इनकार कर दिया जबकि इस आधार पर वापसी की ईप्सा की गई थी कि अभियोजन-पक्ष अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य प्रस्तुत करना और

---

[1] [1972] 2 उम० नि० प० 37 = [1972] 2 एस० सी० आर० 599.

[2] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 370.

[3] [1957] एस० सी० आर० 279.

दांडिक मामला जारी रखना नहीं चाहता था। सेशन न्यायाधीश ने अपनी सम्मति दे दी क्योंकि उसे "राज्य को अभियोजन वापस लेने की अनुज्ञा देने से इनकार करना व्यर्थ" प्रतीत हुआ। यह सम्मति अपास्त की गई थी क्योंकि साक्ष्य प्रस्तुत करने में अनिच्छा वापसी के लिए पर्याप्त आधार के रूप में अभिनिर्धारित नहीं की गई थी।

95. **उड़ीसा राज्य** बनाम **चन्द्रिका महापात्र और अन्य**[1] वाले मामले में वापसी के लिए आवेदन दो आधारों पर किया गया था -- (1) यह कि मामले के संबंध में कार्यवाही करना असमीचीन पाया गया था, (2) यह कि अन्वेषण के दौरान जो साक्ष्य एकत्र किया गया था वह बहुत थोड़ा था और अभियुक्त के विरुद्ध उस मामले में कार्यवाही करने से कोई भी उपयोगी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। मजिस्ट्रेट ने यह अभिनिर्धारित करते हुए सम्मति दे दी कि अभियोजन को चलाने के लिए राज्य को विवश करने से अनावश्यक व्यय होगा और जनता का समय नष्ट होगा। इस न्यायालय ने सम्मति को कायम रखा और यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य का बहुत थोड़ा होना वापसी के लिए विधिसम्मत आधार था। एक महत्वपूर्ण पहलू पर पृष्ठ 338 पर की गई निम्नलिखित मताभिव्यक्ति हमारे प्रयोजन के लिए उपयोगी है। उस मामले में, जैसा कि इस मामले में हैं, मजिस्ट्रेट ने अपने आदेश में स्पष्ट रूप से यह कथन किया था कि वह अपने समक्ष रखी गई सामग्री की परीक्षा करने के पश्चात् सम्मति दे रहा है। न्यायालय ने अपने निष्कर्ष को इस प्रकार संक्षेप में दिया—

> "हमारे लिए यह समझना कठिन है कि उच्च न्यायालय किस प्रकार से अपने आदेश में कदाचित यह मत व्यक्त कर सकता था कि मजिस्ट्रेट ने रोजनामचा का अवलोकन नहीं किया जबकि वस्तुत: विद्वान् मजिस्ट्रेट ने अपने आदेश में यह कथन किया है कि उसने रोजनामचा पढ़ा था और उसे पढ़ने के बाद ही उसका यह मत था कि अभियोजन पक्ष का यह प्रकथन कि साक्ष्य पर्याप्त नहीं है, गलत आधार पर नहीं किया गया था। पुन: यह समझना कठिन है कि उच्च न्यायालय किस प्रकार कदाचित यह कह सकता था कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने अभियोजन की कार्यवाही वापस लेने संबंधी अपनी सम्मति इस आधार पर दी थी कि मामले के संबंध में कार्यवाही करना असमीचीन है जबकि अनेक पदों में विद्वान् मजिस्ट्रेट ने इस आधार को अस्वीकृत कर दिया था कि केवल दूसरे आधार पर ही अपनी सम्मति दी थी, जो कि साक्ष्य के अपर्याप्त होने पर आधारित था।........."

जब मजिस्ट्रेट अपने आदेश में यह कथन कर देता है कि उसने सामग्री पर विचार किया है, तो इस न्यायालय के लिए उस कथन को स्वीकार न करना उचित नहीं होगा। उचित यही होगा कि यह अभिनिर्धारित किया जाए कि मजिस्ट्रेट ने मामले के सुसंगत पहलुओं पर वस्तुपरक रूप से विचार करने के पश्चात् सम्मति दी थी। इस प्रकार के मामलों में मजिस्ट्रेट की त्रुटि निकालना धारा 321 की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करना होगा, जब तक कि आदेश से यह प्रकट न हो कि मजिस्ट्रेट इस बात पर विचार करने में असफल रहा कि क्या आवेदन लोक नीति और न्याय के हित में सद्भावपूर्वक किया गया है न कि विधि की प्रक्रिया को निष्फल करने या उसका दमन करने के लिए किया गया है।

---

[1] [1977] 3 उम० नि० प० 621=[1977] 1 एस० सी० आर० 335.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

96. **बलवंत सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने उस समय दु:ख अनुभव किया जबकि लोक अभियोजक और मजिस्ट्रेट ने अपने विवेकाधिकार को त्याग दिया किंतु उसने अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाज़त अनुदत्त करने से इंकार किया और वापसी की पुष्टि हो गई।

97. **सुभाष चंद्र** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने वापसी के लिए दी गई सम्मति इसलिए कायम रखी चूंकि नए सिरे से अन्वेषण करने पर यह प्रकट हुआ था कि मामला संबंधित पुलिस अधिकारियों द्वारा अंतरस्थ हेतु से विरचित किया गया था। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि सम्मति के बारे में जिन दो सुसंगत बातों पर विचार किया जाना है वे ये हैं: (1) क्या दिए गए कारण सुसंगत हैं और (2) क्या वास्तविक विनिश्चय लोक अभियोजक द्वारा ही किया गया था या उसने केवल अन्य व्यक्तियों द्वारा उसे दिए गए आदेशों का पालन किया था।

98. **राजेन्द्र कुमार जैन** बनाम **राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय को मामलों के दो संवर्गों पर कार्यवाही करनी थी—एक बड़ोदा डायनामाइट वाले मामले से तथा दूसरा भिवानी का मंदिर गिराए जाने के मामले से संबंधित था। उस मामले में इस न्यायालय ने संक्षेप में आठ प्रतिपादनायें कीं जो कि **शिव नन्दन पासवान** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[4] वाले मामले में न्यायमूर्ति तुलज़ापुरकर द्वारा दिए गए निर्णय में दी गई हैं। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि केवल साक्ष्य की कमी ऐसा आधार नहीं है जिस पर लोक अभियोजक अभियोजन को वापस ले सकेगा यद्यपि वह वापसी के लिए एक पारंपरिक आधार है। राजनीतिक प्रयोजन और राजनीतिक द्वेष वापसी के लिए पर्याप्त आधार प्रदान करते हैं।

99. उपर्युक्त सभी विनिश्चयों में **राम नरेश पांडे**[5] वाले मामले में दिए गए तर्कों का अनुसरण किया गया और इस विनिश्चय में नियत किये गये सिद्धांतों के बारे में कोई संदेह व्यक्त नहीं किया गया था।

100. इन विनिश्चयों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत मामले पर विचार किया जाना है। मेरा यह निष्कर्ष है कि लोक अभियोजक द्वारा वापसी के लिए आवेदन उसके समक्ष रखी गई सामग्री पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् सद्भावपूर्वक किया गया है और मजिस्ट्रेट द्वारा सम्मति देने वाला आदेश, जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है, विभिन्न ब्यौरों पर सम्यक् ध्यान देने के पश्चात् किया गया था। धारा 321 की स्कीम को ध्यान में रखते हुए इस न्यायालय के लिए मामले के तथ्यों और साक्ष्य के बारे में एक विस्तृत जांच प्रारम्भ करना अनुचित होगा या उसके पुनः विचारण का निदेश देना इस धारा के उद्देश्य और आशय का विनाशक होगा।

---

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 244=[1978] 1 एस० सी० आर० 604.
[2] [1980] 4 उम० नि० प० 307=[1980] 2 एस० सी० आर० 44.
[3] [1981] 2 उम० नि० प० 665=[1980] 3 एस० सी० आर० 982.
[4] [1983] 2 उम० नि० प० 897=[1983] 2 एस० सी० आर० 61.
[5] [1957] एस० सी० आर० 279.

101. अब मैं विचार-विमर्श को पूरा करने के लिए मामले के तथ्यों को शीघ्रता से वर्णित करने की प्रस्थापना करता हूं।

102. जब प्रथमतः मामले पर इस न्यायालय द्वारा सुनवाई की गई थी तब प्रस्तुत की गई दस्तावेजों के प्रति दोनों पक्षों के काउंसेलों द्वारा अत्यधिक निर्देश किया गया था। इसमें दोनों पक्षों की ओर से फाइल किए गए शपथपत्र भी सम्मिलित थे। न्यायमूर्ति बहरूल इस्लाम ने विधि के प्रश्न पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् तथ्यात्मक पहलू की भी परीक्षा की थी। तथ्यों के आधार पर श्री वेनुगोपालन (उस मामले में अपीलार्थियों के काउंसेल) की दलीलों के प्रति निर्देश करते हुए विद्वान् न्यायाधीश ने निम्नलिखित रूप में मत व्यक्त किया :—

> "विद्वान् काउंसेल ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उन्होंने मौखिक साक्ष्य का अधिक आश्रय नहीं लिया है, बल्कि दो दस्तावेजी साक्ष्यों अर्थात् डा० मिश्र द्वारा कूटरचित दस्तावेजों का अभिकथित रूप से सृष्ट किए जाने और डा० मिश्र को फंसाने वाला हैदरी का संस्वीकारात्मक कथन का आश्रय जोर देकर लिया है।"

इस अनुमोदन के पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश उन तथ्यात्मक ब्यौरों पर जिन पर काउंसेल द्वारा जोर दिया गया था, विचार करने के लिए अग्रसर हुए किंतु उन्होंने यह कथन करते हुए सतर्कता बरती कि तथ्यात्मक ब्यौरों पर विचार करना एक नजीर के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि, उनके कथनानुसार, अपीलार्थी को संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर की गई अपील में इन्हें पहली बार उठाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। विद्वान् न्यायाधीश ने जो मत व्यक्त किया वह इस प्रकार है :—

> "आगे बढ़ने से पूर्व, यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि अपीलार्थी ने विशेष न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किए गए अपने आवेदन में लोक अभियोजक द्वारा धारा 321 के अधीन फाइल किए गए अभियोजन वापस लिए जाने के आवेदन पत्र के आधारों में किसी त्रुटि का उल्लेख नहीं किया। उनकी एकमात्र दलील यह थी कि लोक अभियोजक द्वारा मामले को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है और यह कि अभियोजन वापस लेने के संबंध में अपनी सम्मति देने से पूर्व न्यायालय को स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और यह कि मामले में उसकी सुनवाई की जानी चाहिए। उन्होंने तारीख बदलकर या किसी पूर्ववर्ती आदेश को चिपका कर कूटरचना किए जाने का उल्लेख नहीं किया और इस प्रकार दोषों को बचाने का प्रयास किया। इस प्रकार उन्होंने विशेष न्यायाधीश और उच्च न्यायालय को आदेश चिपकाकर या तारीख बदलकर किए गए कूटरचना के अभिकथित आरोप पर निष्कर्ष देने से निवारित किया और ऐसा करके निचले न्यायालयों के निष्कर्ष के लाभ से हमें भी वंचित किया। तथ्य संबंधी यह प्रश्न अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा इस अपील में बहस के दौरान इस न्यायालय की जानकारी में लाने का प्रयास किया गया। तथ्य संबंधी ऐसा प्रश्न जिसके अन्वेषण की आवश्यकता है, संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर की गई अपील में पहली बार उठाए जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।"

मैं सादर इस दृष्टिकोण से सहमत हूं।

103. हमारे समक्ष कई दस्तावेज हैं जिनका दोनों पक्षों के काउंसेलों द्वारा अपने निवेदनों के समर्थन में अवलंब लिया गया है। मार्च, 1977 से पूर्व, पटना नगरीय सहकारी बैंक में किए गए दुराचार से संबंधित केवल तीन महत्वपूर्ण दस्तावेजे थीं :—

(क) भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट;

(ख) विशेष प्रभागीय सहकारी संपरीक्षा अधिकारी की संपरीक्षा रिपोर्ट; और

(ग) बिहार विधानसभा की प्राक्कलन समिति की रिपोर्ट।

तीनों रिपोर्टों में से किसी में भी द्वितीय प्रत्यर्थी के नाम का किसी अपराध में षड़यंत्रकारी के रूप में या बैंक के कार्यकलापों के संबंध में अपराधी के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है। अत: ये तीनों दस्तावेजें प्रत्यर्थी के विरुद्ध किसी दांडिक न्यायालय के समक्ष मामले पर जोर देने में अपीलार्थी की सहायता नहीं करेगी। द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध अभियोजन यह था कि वह एन० के० सिन्हा को बचाने का प्रयत्न कर रहा था। यह स्मरण रखना उपयोगी है कि उसके विरुद्ध 17 दांडिक मामले फाइल किए गए थे और वे अब भी लंबित हैं।

104. जिस एक महत्वपूर्ण साक्ष्य पर द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध जोर दिया गया है, वह हैदरी का संस्वीकारात्मक कथन है। हैदरी के विरुद्ध दो मामले थे, प्रस्तुत मामला और एक अन्य मामला। इस मामले में उसे क्षमा प्रदान की गई थी। वह इकबाली साक्षी बन गया और अभियोजन साक्षी बना। प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा 4 अगस्त, 1976 को पारित आदेशों के आधार पर विभिन्न अन्य मामलों में उसके विरुद्ध अभियोजन चलाया गया। उसने प्रथम संस्वीकारात्मक कथन 4 नवंबर, 1976 को किया था। उस समय उसने प्रत्यर्थी सं० 2 को आलिप्त नहीं किया था। उसे 22 जनवरी, 1978 को पुन: गिरफ्तार किया गया था। उसने 24-1-78 को एक दूसरा संस्वीकारात्मक कथन किया। इस बार उसने द्वितीय प्रत्यर्थी को वर्ष 1973-75 में किए गए अभिकथित अपराध के लिए प्रथम बार आलिप्त किया। द्वितीय प्रत्यर्थी को आलिप्त करने वाले इन संस्वीकारात्मक कथनों का साक्ष्यिक मूल्य क्या है। द्वितीय कथन अधिक से अधिक एक सह-अभियुक्त का ऐसा संस्वीकारात्मक कथन है जो कि किसी भी न्यायालय में सामान्यत: विश्वास उत्पन्न नहीं करेगा। यह इकबाली साक्षी के रूप में बदले गए एक सह-अपराधी का भी कथन है और इसलिए उसका बहुत कम साक्ष्यिक मूल्य है। विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या विधित: कमजोर और क्षीण इस साक्ष्य के आधार पर पुन: विचारण का आदेश दिया जाना चाहिए जबकि यह न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के अधीन किए गए आवेदन में सम्मति देने वाला आदेश करने पर विचार करते समय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है। मुझे इस न्यायालय की साक्ष्य प्रारंभ न करने संबंधी घोषित नीति से संगत इस निवेदन को अस्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है।

105. दूसरे प्रकार का साक्ष्य अभिकथित कूटरचना के संबंध में है। आरोप का मुख्य कारण यह है कि द्वितीय प्रत्यर्थी ने मुख्यमंत्री के रूप में 16 मई, 1975 को हिंदी

में एक आदेश पारित किया और 14 मई, 1975 की तारीख डालते हुए एक अन्य आदेश लिखा और उसे पूर्ववर्ती आदेश पर चिपकवा दिया। अभिकथन यह किया गया कि उसने मूल हिंदी अंक "6" को बदलकर "4" कर दिया। द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा इस बात से प्रत्याख्यान नहीं किया गया है। जो विवाद उठाया गया है वह यह कि काटकर उसके ऊपर उससे पहले की तारीख लिखने का उपर्युक्त कार्य करके द्वितीय प्रत्यर्थी ने कूटरचना की थी और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(1 घ) के अधीन अपराध भी किया था। मैं मामले के इस भाग पर मात्र इस कारण से विस्तार से कार्यवाही करने की प्रस्थापना नहीं करता कि इस मामले में लेशमात्र भी साक्ष्य नहीं है कि यह फाइल मुख्यमंत्री के कार्यालय से कभी भी बाहर गई थी और न ही किसी व्यक्ति ने इस प्रकार काट कर ऊपर लिखने से कोई फायदा ही उठाया था। जब विद्वान् काउंसेलों में से एक श्री राजेन्द्र सिंह ने यह प्राख्यान किया था कि फाइल मुख्यमंत्री के कार्यालय से बाहर नहीं गई, तब अपीलार्थी की ओर से किसी के द्वारा उस प्राख्यान का खंडन नहीं किया गया था। इस बारे में कोई साक्ष्य नहीं है कि तारीख कब बदली गई थी और यह कि क्या तारीख के इस बदले जाने से तृतीय प्रत्यर्थी एन० के० सिन्हा को कोई फायदा प्राप्त हुआ था। ऐसा होने के कारण यह तथ्यात्मक पहलू भी मेरे लिए बाधक नहीं है। इस सामग्री के आधार पर कोई भी यह समझने में असमर्थ होगा कि धारा 466 के अधीन कोई अपराध कैसे सिद्ध किया जा सकता है। संपूर्ण साक्ष्य को अपीलार्थी के विरुद्ध मानते हुए, यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उसने धारा 463 के अधीन कूटरचना की थी या धारा 466 के अधीन कोई अपराध किया था। यद्यपि अंकों को काटकर ऊपर लिखने या चिपकाने या प्रक्षेप करने या बदलने का कार्य किया गया था, तथापि यह दर्शित करने के लिए बिल्कुल भी कोई साक्ष्य नहीं है कि यह पेपर मुख्यमंत्री के कार्यालय से बाहर लाया गया था या यह कि किसी के प्रति असम्यक् पक्षपात बरता गया था या यह कि किसी ने भी इस प्रकार काटकर ऊपर लिखे जाने का प्रयोग करके अनुचित लाभ सुनिश्चित किया था।

106. अपीलार्थी स्वीकृतत: प्रत्यर्थी सं० 2 का एक राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी है। वे परस्पर घृणा करते हैं। इतने अत्यंत हितबद्ध व्यक्ति के अनुरोध पर ही इस न्यायालय से विशेष न्यायाधीश द्वारा दी गई सम्मति को अपास्त करके मामले के पुन: विचारण की अपेक्षा की गई है। द्वितीय प्रत्यर्थी एक राजनीतिक दल का नेता है। वह मामले को संस्थित किए जाने के समय मुख्यमंत्री का, जिन्होंने 1977 के पश्चात् उसका स्थान लिया था, एक प्रतिद्वंदी था। 1977 में जबकि द्वितीय प्रत्यर्थी मुख्यमंत्री था, श्री कर्पूरी ठाकुर के विरुद्ध उसकी गिरफ्तारी और निरोध के लिए एक गिरफ्तारी का वारंट जारी किया गया था। यह इंगित किया गया है कि श्री ठाकुर द्वितीय प्रत्यर्थी से वैरभाव रखते थे। मेरे विचार से इस पृष्ठभूमि के विपरीत अवलोकन करने पर, मामले के असमाधानप्रद तथ्यात्मक ब्यौरे के आधार पर अपील मंजूर करने और पुन: विचारण का निदेश देने से न तो न्याय के हितों और न ही लोकहित की अभिवृद्धि होगी।

107. मैं जानबूझकर मामले के तथ्यात्मक ब्यौरों पर विचार करने से विरत रहा हूं क्योंकि वे ब्यौरे **शिवनन्दन पासवान** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस

---

[1] [1983] 2 उम नि० प० 897=[1983] 2 एस० सी० आर० 61.

1986(12) eILR(PAT) SC 41

न्यायालय के तीन न्यायाधीशों द्वारा दिए गए तीन निर्णयों में उपलब्ध हैं। मैंने मामले के तथ्यों और उसमें अंतर्ग्रस्त विधि के प्रश्नों के प्रति निर्देश करके पूर्णत: निष्पक्ष रीति से संपूर्ण मामले पर दृष्टिपात किया है। इस मामले में इस न्यायालय से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 के क्षेत्र और परिधि मात्र पर, न कि द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की सत्यता अथवा अन्यथा पर, विचार करने की अपेक्षा की गई है। अत: जब हम उच्च न्यायालय के तथा विशेष न्यायाधीश के आदेश को कायम रखते हैं, तब हमने उन आदेशों के औचित्य मात्र को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 321 की परिधि के मुकाबले परखने के पश्चात् कायम रखा है। ऐसे सच्चे मामलों की संख्या अत्यधिक है, जिनका संदेह-लाभ के सिद्धांत की वेदी पर दमन किया गया था। चूंकि इस अपील की परिधि मामले के गुणागुण पर विस्तार से विचार करने तक विस्तारित नहीं है और न ही हो सकती है, इसलिए मैंने जानबूझकर इस प्रकार की जांच प्रारंभ नहीं की। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इस न्यायालय को मामलों का विनिश्चय करते समय उसमें अंतर्ग्रस्त केवल विधिक विवाद्यकों पर विचार करना चाहिए न कि उसमें अंतर्वलित व्यक्तियों पर।

108. मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि यह अपील असफल होनी है और खारिज की जानी है। तदनुसार मैं अपील खारिज करता हूं।

न्यायमूर्ति एस० नटराजन :

109. मैं उपर्युक्त निर्णय से सहमत हूं।

आदेश

110. बहुमत की राय के अनुसार यह अपील खारिज की गई समझी जाएगी।

अपील खारिज की गई।

ग्रो०/क०